श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

खण्ड 1

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(प्रथम खण्ड)

व्यास शास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्राकशक
संकीर्तन भवन,
झूसी (प्रयाग)

श्रावण, संवत् २००३ विक्रमी

प्रकाशक—
श्री शंकरलाल गुप्त,
संकीर्तन-भवन,
झूसी (प्रयाग)

प्रथम संस्करण
श्रावण, सम्वत् २००३ वि०
मूल्य १।) रु०

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

स्थाई ग्राहकों से डाक व्यय रहित वार्षिक दक्षिणा १४) अग्रिम

मुद्रक—
श्री सत्यवान शर्मा
शिशु-प्रेस,
प्रयाग ।

❀ श्री हरिः ❀

समर्पण

कृष्ण कथा रस पान कान करि मम भरिहैं ?
करि हरि दरशन अश्रु नयन कब झर-झर झरिहैं ?
कब हौं जीवन मूरि, धूरि-पग भक्तनि मानूँ ?
कब श्रीराधारमन चरन सरबसु करि जानूँ ?

जे नित अस वांच्छा करहिँ, तजहिँ जगत की सब व्यथा।
उनहिँ भागवत करनि महँ, अरपित 'भागवती कथा॥'

पुराण-सत्र मंडप,
झूसी (प्रयाग)
आषाढ़ शु० देव शयनी ११,२००३ वि०

—प्रभुदत्त

विषय-सूची

विषय				पृष्ठाङ्क
(क) प्रकाशक का वक्तव्य	...			१
(ख) मेरा पतन	...	...	...	८
१—भागवती कथा (भूमिका)	...		...	१७
२—जयार्थ	...	...	...	४२
३—नैमिषारण्य	...	...	...	४८
४—श्री सूत्र	...	...	...	६१
५—सर्वोत्कृष्ट प्रश्न	...	...	...	७०
६—परम धर्म	...	...	...	८०
७—भागवत सेवा से		...	...	८८
८—भवागती प्रक्रिया		...	...	९६
९—श्रवण-परम्परा	...	...	...	१०४
१०—विराट् पुरुष	...	...	...	११३
११—प्रथमावतार	...	...	...	१२१
१२—अन्यावतार	...	...	...	१३१
१३—पावन प्रश्न	...	...	...	१४३
१४—श्री व्यासदेव	...	...	...	१५८
१५—श्री व्यासजी की चिन्ता		...	...	१७३
१६—व्यासाश्रम पर श्रीनारद जी		...	...	१४८
१७—व्यासजी का व्याकुलता का कारण			...	१८२
१८—नारदजी की पूर्वजन्म का वृत्त		...	...	२०४
१९—गंधर्व योनि में नारदजी		...	...	२१३
२०—नारदजी को शूद्र योनि में सत्संग			...	२२१

श्री बदरीश्वर

॥ श्री हरिः ॥

प्रकाशक का वक्तव्य

वंशीविभूषित करान्नवनीरदाभात्

पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्वेमहं न जाने ॥

हम लोगों की बहुत दिनों से इच्छा थी कि श्री महाराजजी के ग्रंथों का एक स्वतंत्र प्रकाशन विभाग खोला जाय। महाराजजी की एक छोटी सी पुस्तक "भगवन्नाम संकीर्तन महिमा" मैंने पहिले प्रकाशित भी की थी। वह मैंने तीन हजार छापी थी और सब की सब बिक गई। अब वह अप्राप्य है। तलेगु आदि अन्य भाषाओं में भी उसके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। हम सब की इच्छा थी कि यह कार्य सुव्यवस्थित रूप से चलाया जाय, किन्तु बार-बार हमारे प्रस्ताव करने पर भी महाराजने इसका समर्थन नही किया और उनके समर्थन के बिना हमारा कुछ करने का साहस नहीं हुआ। उनका कहना था यह शुद्ध व्यापार है। तुम लोगों के साथ मैं भी इसमें फँस जाऊँगा और फिर मेरे मनमें ये ही सब संकल्प उठा करें गे। हमारा कहना था—आपको करने के लिये तो हम कहते नहीं। आप अपनी पुस्तकों को अन्य प्रकाशकों को भी तो देते ही हैं। उनमें से अधिकांश आवश्यकता से अधिक मूल्य रखते हैं। इससे उनको कुछ आर्थिक लाभ भले ही हो जाय, साधारण पाठकों को जितना होना चाहिये, उतना लाभ नहीं होता।

रही व्यापार की बात, सो हम लोग अपने और भी तो व्यापार करते ही हैं। यह भी सही। जैसे ही सत्तर वैसे ही अस्सी। किन्तु उनका कथन था—ये सब तुम्हारी बनाबटी बातें हैं। ऐसा कह कर तुम लोग मुझे फँसा कर अलग होजाओगे "देके भुस में आगि दमालो दूरि भई।" अपना व्यापार तो तुम लोग अपने बाल बच्चों के लिए करते हो, यह है परमार्थ के लिये। यह सब मेरे सिर पड़ेगा और फिर माला झोली सब एक ओर धरी रह जायँगी। "भूलि गये राग रंग भूलि गये चौकड़ी। तीन चीज याद रहीं नौंन तेल लकड़ी "बस, फिर यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ, यही रह जायगा। "आये थे हरि भजन को ओटन लगे कपास।" ऐसे यह प्रस्ताव टलता ही गया।

इधर एक दो प्रकाशकों के अत्यंत अनुचित व्यवहार से गतवर्ष उनके मन में बड़ा क्षोभ हुआ। इसे सुअवसर समझ करके (रामजी, परमहंस आदि) हम लोगों ने फिर यह प्रस्ताव रखा। अब के बहुत कहा सुनी के पश्चात् यह प्रस्ताव इस शर्त-पर स्वीकृत हो गया, कि मैं कुछ भी न करूँगा, न किसी को ग्राहक बनने को कहूँगा, न किसी से इसके लिए पैसा मांगूँगा। जैसे अन्य प्रकशकों को लिख कर दे देता हूँ, वैसे ही तुम्हें लिख कर दे दूंगा। आगे तुम जानों और तुम्हारा काम जाने। हानिलाभ का मैं भागीदार नहीं। हम लोगों ने भगवान् के भरोसे पर इसे स्वीकार कर लिया। उसी का यह परिणाम है, कि आज हम यह द्वितीय ग्रंथ पाठकों की सेवा में बड़े हर्ष के साथ उपस्थित कर रहें हैं। सब प्रथम "श्री शुक" नाम का विशुद्ध धार्मिक नाटक संकीर्तन भवन की ओर से प्रकाशित हुआ था। अब यह दूसरा ग्रंथ "श्री भागवत दर्शन" के अंतर्गत "भागवती कथा" का प्रथम खण्ड है।

यह ग्रंथ महान् होगा। एक प्रकार से श्रीमद्भागवत के आधार पर स्वतंत्र ग्रंथ है। यह कम से कम ५०-६० भागों में समाप्त होगा, इससे अधिक में भी हो सकता है।

मेरा निवेदन पाठकों के चरणों में इतना ही है। हम सभी लोग जो इसमें काम करते हैं, बच्चे हैं, अनुभव शून्य हैं। कभी ऐसे कार्य किये नहीं। कोई भी प्रकाशन का साधन हमारे पास नहीं है। सर्वसाधनों से हीन होकर भी हमने केवल भगवान् और भगवत् भक्तों की कृपा के सहारे ही इतने बड़े महान् कार्य को करने का साहस किया है। जिस समय हम पहिले इस काम को करने का विचार करते थे, तब सोचते थे—"कोई कठिन कार्य तो है नहीं। एक दो पुस्तक निकल जायँगी, झट-झट हजारों ग्राहक बन जायँगे, बिकती जायेंगी, नई-नई निकलती जायँगी।" किन्तु ज्योंही हमने इसे आरम्भ किया, तब पता चला, यह तो टेढ़ी खीर है। प्रथम खंड के प्रकाशन के झंझटों में ही हम इस परिणाम पर पहुँचे, कि जब तक अपना निजी प्रेस न होगा, तब तक इतना बड़ा महान् ग्रंथ किसी भी दशा में पूरा प्रकाशित नहीं हो सकता। आज कागज का मिलना कितना दुर्लभ है, छपाई की कैसी दशा है, इसे भुक्त भोगियों के अतिरिक्त कोई जानता नहीं। इस कथन से हमारा इतना ही अभिप्राय है, कि जब तक हमारा अपना प्रेस नहीं हो जाता, तब तक पाठक हमें समय पर आगे के खण्ड न निकलें, तो उसके लिये—हमारी विवशता समझकर क्षमा करें। हम भरसक चेष्टा ऐसी करेंगे, कि प्रत्येक खण्ड समय से निकलें। किन्तु अभी हमें डाक विभाग से रजिष्टर्ड कराना है, बिना रजिष्टर्ड कराये डाक व्यय ही अत्यधिक लग जाता है। अतः दो या तीन खंड साथ ही भेजे जायँ, तो पाठक बुरा न मानें। हम चाहते हैं। इस

ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार हो। क्योंकि आज सनातन धर्म का जैसा ह्रास हो रहा है वैसा संम्भवतया कभी भी न हुआ होगा। इस पाश्चात्य शिक्षा ने हमारा सर्वस्व बरबाद कर दिया है। इसने हमारा सामाजिक, राजनैतिक, जो पतन किया है सो तो किया ही है, सब से अधिक कुठाराघात इस शिक्षा ने हमारे धर्म के ऊपर किया है। इस शिक्षा ने बाल्यकाल से हमारे हृदयों में घुसकर ऐसी जड़ जमा ली है कि हम अपनी पुरानी संस्कृति, सभ्यता को एक दम भूल गये हैं।

हमारे बच्चे मनोरंजन के लिये जो कहानियाँ उपन्यास पढ़ते है, वे इतने गंदे होते हैं कि उन से लड़के-लड़कियों का मन मलिन हो जाता है। उनकी वैषयिक वृत्ति जग उठती है। वे विषय भोग और अवैध सम्बन्ध को ही सुख का साधन समझने लगते हैं। हमारे बच्चे यदि धार्मिक कथाओं को पढ़ें, तो मनोरंजन के साथ-साथ उन्हें धार्मिक ज्ञान भी होगा, अपने आचारविचार सदाचार से भी अनभिज्ञ न रहेंगे, हिन्दू धर्म का गौरव भी समझने लगेंगे। और सब चाहें जैसे अपने को उन्नत समझें, किन्तु हिन्दुओं की उन्नति तो धर्म से ही होगी। इसी लिये हमारी इच्छा है, कि एक इस हिन्दू धर्म के सार सिद्धान्त रूपी महा ग्रंथ का अधिक प्रचार हो। हम तो सुन्दर से सुन्दर, सस्ते से सस्ता साहित्य, सनातन संस्कृति के प्रेमी की सेवा में समय समय पर समुपस्थित करने की चेष्टा करेंगे, किन्तु यदि पाठक हमारे कार्यों में सहयोग दें—सब प्रकार से हमारा उत्साह बढ़ावें—तब यह कार्य सुचारु रीति से सम्पन्न हो सकेगा। पाठक इन उपायों से इसमें सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

(१) इन ग्रंथों को स्वयं पढ़ें, अपनी स्त्रियों और बालबच्चों को तथा परिवार वालों को पढ़ावें।

(२) अपने परिचित बन्धुओं को इसका पाठक बनावें। प्रत्येक पाठक १०-२० अपने प्रेमियों को ग्राहक बनावें।

(३) यह पूरा ग्रंथ इतना बड़ा होगा कि इसे साधारण आय वाले गरीब पुरुष मूल्य देकर नहीं ले सकते। उनके लिये धनी मानी सामर्थ्यवान पुरुष यह करें, कि सार्वजनिक पुस्तकालयों में इस पूरे ग्रंथ को रखाने की चेष्टा करें। रुपया पैसा दान देने से तो दिया और व्यय हो गया। यह दान ऐसा होगा, कि जब तक वह पुस्तकालय रहेगा दाता का नाम अमर रहेगा। जो भी पाठक पढ़ने ले जायँगे, वेही उस पर दाता के नाम की मुहर देख कर उसे धन्यवाद देंगे। दाता सबको विद्या दान करने के फल के भागी बनेगें। विद्यादान से श्रेष्ठ कोई दान नहीं। जो दाता जितनी भी पुस्तकें जितने भी पुस्तकालयों में देना चाहें, उन सब की व्यवस्था हम करेंगे। समाचार पत्रों में सूचना निकलवा कर पुस्तकालयों से पत्र मंगायेंगे। दाता चाहें जिन पुस्तकालयों को दें सकते हैं।

(४) प्रचार की दृष्टि से लोगों को इन कथाओं को सुनावें।

(५) तथा पाठक हमें आशीर्वाद दें कि हम अपने इस कार्य में सफल हों।

अन्त में हम राय बहादुर पं० महेशानन्द घिल्डियालजी के प्रति अपनी अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिन्होंने हमें कागज आदि प्राप्त कराने में अत्यन्त सहयोग दिया। वे अपने हैं। सदा हम सब पर कृपा रखते हैं, हमारे बड़े हैं। अतः हम उन्हें धन्यवाद तो क्या दें सदा उनकी कृपा के आभारी रहे हैं और रहेंगे।

उन सर्वान्तर्यामी प्रभु के पादपद्मों में हमारी यही प्रार्थना है कि इस कार्य को विशुद्ध भगवत् सेवा समझ कर ही हम करते रहें।

संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग)
शंकरलाल ऋषिकुमार दुशालेवाले
मोती बाजार, देहली।

विनीत सेवक
शङ्करलाल गुप्त

—:o:—

मेरा पतन ?

शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम् ।
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
अधोऽधोगङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा ।
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥*

(श्रीमत्. नी. श. १० श्लो.)

अब से २३-२४ वर्ष पूर्व वाराणसी में कुछ काल मैंने साहित्यिक जीवन व्यतीत किया था। उस समय हृदय में कुछ वैराग्य था भगवान को पाने की अभिलाषा थी। साहित्यिक जीवन मुझे अच्छा नहीं लगा। भगवान् से प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे लेखक, प्रकाशक मत बनाना। अपने चरणों की भक्ति प्रदान करना। तुम्हारे चरणारविन्द के मकरन्द का पान करने वाला मत्त मधुप बनूँ। सिड़ी पागलों की तरह स्वेच्छाचारी पक्षियों की तरह, वन में विहार करने वाले जन्तुओं की तरह आपकी स्मृति में ही उन्मत्त हुआ विचरूँ, विश्व ब्रह्मांड की बातें सब विस्मृत हो जायँ।" इसके लिये प्रयत्न भी किया, न लिखने का नियम भी किया; किन्तु विधि के विधान को व्यर्थ करने की सामर्थ्य किसमें है! प्रारब्ध को पुरुषार्थ से हटाने का साहस कौन

---

* विष्णुपादाब्ज संभूता भगवती भागीरथी श्री विष्णुपद-स्वर्ग से-पतित होकर शिव जी के सिर पर, वहाँ से हिमशैल पर, वहाँ से पृथिवी पर-पुनः पृथिवी से बहकर समुद्र में मिल गईं। इसी प्रकार जो विवेक भ्रष्ट पुरुष हैं, एक बार नीचे गिरने पर-फिर गिरते ही जाते हैं। उनकी उत्तरोत्तर अवनति ही होती जाती है।

कर सकता है ? वयमाता के लेख पर मेख कौन मार सकता है ? मेरा जो भी कुछ वैराग्य था, वह कर्पूर की भाँति उड़ गया, अब कुछ है भी तो जैसे कपूर उड़ जाने पर भी डिबिया में सुगंधि बनी रहती है, वैसा ही समझिये।

कहावत है "बुखार और वैराग्य सदा एक सा रहता नहीं।" जिसे सदा बना रहे, तो वह बहुत दिन मर्त्यलोक में फँसा नहीं रह सकता। मनुष्य का शरीर सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बना है। जैसे समुद्र में सदा छोटी-बड़ी अथवा मध्य की ऊर्मियाँ उठती रहती हैं वैसे ही मनुष्य शरीर में त्रिगुणमयी लहरें उठती रहती हैं। जब सत्वगुण की वृद्धि होती है तो विषयो से वैराग्य, परमार्थ चिन्तन की अभिलाषा होती है। सब ओर से प्रकाश दीखता है और संसारी विषय काटने को दौड़ते हैं। उसी अवस्था में मनुष्य संसारी बन्धनों को त्याग कर वैराग्य का आश्रय लेकर एकान्तवास करने को निकल पड़ता है। जिन के पूर्व जन्मोपार्जित असंख्यों पुण्य कर्म हैं, जिन्होंने अनेकों जन्मों में साधना की है। उनका एकान्त में भगवान के चिंतन में, मन लगता है और वे इस संसार बन्धन को काट कर परम पद प्राप्त कर लेते हैं, मुक्त हो जाते हैं। ऐसे योगभ्रष्ट कोई विरले ही होते हैं। उनका वैराग्य कभी उतरता नहीं। राजक्ष्मा के ज्वर के सदृश वैराग्य उन्हें सर्वदा बना ही रहता है।

कुछ ऐसे होते हैं, कि सत्व गुण के प्राबल्य से पहिले तो उन्हें वैराग्य होता है, किन्तु कालान्तर में वह वैराग्य क्षीण होता जाता है। वैराग्य क्षीण होने पर तो यह संसार असत्य रहता नहीं, फिर तो इसके सभी पदार्थ सत्य प्रतीत होते हैं। रोग होने पर औषधि भी चाहिये, औषधि मिलती

हैं पैसों से । पैसा रहता है धनिकों पर, धनिक प्रायः होते हैं विषयी । वे बिना किसी स्वार्थ के पैसा देते नहीं । इसलिये प्रभाव जताकर, सिद्धि दिखाकर, धर्म की आड़ रख कर, परलोक का भय दिखाकर, स्वर्ग आदि का लोभ देकर, जन्त्र, मन्त्र, जादू, टोना, प्रशंसा आदि करके जैसे भी हो, उनसे धन लेने की वासना होती है। उसकी पूर्ति करने के लिये सामग्री जुटानी पड़ती है, दूकान लगानी पड़ती है । घूम फिर कर वही संसार फिर आ जाता है ।

जिन्होंने आरम्भ से ही स्वार्थ सिद्धि के लिए बनावटी वैराग्य का वेष बनाया है, उनकी बात तो छोड़ दीजिये । उन्हें तो कभी वैराग्य हुआ ही नहीं । वे तो विशुद्ध दम्भी हैं ही, किन्तु जिनके जीवन में सचमुच कभी वैराग्य हुआ है और पीछे से वैराग्य शिथिल पड़ गया है उनकी अन्त में दो दशायें होती हैं—एक तो विषयों में फँस जाते हैं दूसरे किसी पारमार्थिक व्यापार में ।

सब को नचाने वाले श्री हरि ही हैं । सभी जीव उन्हीं के संकेत से नाच रहे हैं । जीवों का अभिमान व्यर्थ है । वे जिस समय, जिससे जो कराना चाहते हैं, उसे वैसी ही बुद्धि दे-देते हैं ।

प्रकृति वश ही कभी न कभी कुछ लिखने को मैं बाध्य हो जाता हूँ । यह परोपकार है, साहित्य सेवा है, पारमार्थिक उन्नति के प्रचार का साधन है, ये सब तो मन को लगाये रखने की बातें हैं । वे प्रभु ही सब कुछ करा रहे हैं, उनकी प्रेरणा के बिना प्राणी कर ही क्या सकता है । फिर भी मैंने यह कभी नहीं सोचा था, कि मुझे प्रकाशन कार्य्य में भी सहयोग देकर एक नए व्यवसाय का सृजन करना पड़ेगा । सहसा तो कोई काम होता नहीं । उसका बीज बहुत दिन से बनता रहता है: लोगों पर प्रकट तब होता है, जब वह मूर्तिमान होकर सम्मुख आ जाता है। वृक्ष के भीतर

ही भीतर फल बनता रहता है। जब वह बाहिर दीखने लगता है, तो हम कहते हैं 'देखो, इसमें सहसा फल निकल आया।' इसी प्रकार यह प्रकाशन का संकल्प लोगों के मन में चिरकाल से था, । अब समय आने पर सहसा व्यक्त हो गया। कई बार मेरे सम्मुख यह प्रस्ताव हुआ, मैंने उसका विरोध किया। इसीलिये कि मैं इस कार्य के सर्वथा अयोग्य हूँ।

इस वर्ष जबसे 'अष्टादश पुराण सत्र' आरंभ हुआ, रामजी ने कई बार बड़े आग्रह के साथ कहा—महाराज, हमारी बड़ी इच्छा हैं, हम प्रकाशन का कार्य आरम्भ कर दें।

मैंने कहा—भैया ! देखो, यह काम हम लोगों के वश का नहीं। यह तो जिन की वंश परम्परा से चला आ रहा है वे ही इस कार्य को सुचारु रूप से कर सकते हैं "जा को काम ताही कूँ छाजे, नहीं तो गदहा छूटि मोंगरा बाजे।" धोबी का लड़का ही सुन्दरता से कपड़े धो सकता है। अपने लोग माला झोली खटका सकते हैं। सत्यनारायण की कथा बाँच सकते हैं, पाठ पूजन कर सकते हैं। यह व्यापार तो व्यापार वालों को ही शोभा देता है। एक कहावत है—

"खत्री दाता लाख में, कायथ सौ में सूम।
बनिया बूँग हजार में, बामन बूँग ही बूँग"

बूँग कहते हैं व्यवहार अकुशल को, चुस्ती चालाकी से रहित को। बनियों के बालकों में बाल्यकाल से ही बूझपने का अभाव रहता है। छोटा सा भी बनिये का बालक बड़े-बड़ों के कान काट लेता है। दक्षिण की यात्रा में जब मैं गया था, तब एक १३-१४ वर्ष का मारवाड़ी बालक मेरे डिब्बे में आ बैठा। खण्डवा के आस पास की बात है। बड़ा चैतन्य, बड़ा शिष्ट, बड़ा ही कार्य दक्ष प्रतीत हुआ। बातों ही बातों में मैंने पूछा—"भैया, कहाँ जा रहे

के तोते को खा जाती है तो दुःख होता है। यद्यपि चूहे, तोते दोनों ही घर के ही जानवर हैं, किन्तु तोते में ममत्व है चूहों में नहीं। अन्य प्रकाशकों की अपेक्षा इन लोगों के हानि लाभ की ओर विशेष ध्यान जाता है। यही मेरा पतन है। किन्तु यह पतन मैंने जानबूझ कर स्वीकार किया है। यह सोचकर कि इस कार्य का भगवत् चरित्रों से, भागवतों की कथाओं से, भगवन्नाम संकीर्तन के प्रचार और प्रसार से सम्बन्ध है। यदि इस विषय में मैं सदा जागरूक बना रहा, इस लक्ष्य को सदा स्मरण बनाये रखा, तब तो पतन होने पर भी मैं उत्थान की ओर अग्रसर हो सकूँगा। यदि इस लक्ष्य से च्युत होकर लाभ हानि के चक्कर में फँस गया, तब तो शुद्ध पतन है ही, अनेक व्यापारियों के साथ हम सब की भी गणना हो जायगी।

इस प्रथम खण्ड के प्रकाशन में जो-जो असुविधायें, जो-जो विघ्न-बाधायें हुईं, उन सब का विस्तार से वर्णन किया जाय, तो इससे भी बड़ा एक पोथा बन जायगा। फिर यह भागवती कथा न रह कर "प्रकाशन दुःख रोवन कथा" हो जायगी जिससे पाठकों का कोई सम्बन्ध नहीं। भोजनालय में वर्षा के दिनों में गीली लकड़ियों से भोजन बनाने में, नये रसोये को कितना क्लेश होता है, इसे "रसौया महाराज" ही जान सकते हैं। मालिक के परिवार वालों को तो बने बनाये भोजन से काम। तिस पर भी ठीक न बना, तो दाल घुली नहीं, साग में पानी अलग अलग दीखता है, रोटी कच्ची हैं, चावल में किनखी हैं—ये सब शिकायतें भी करते हैं। उनका करना ठीक भी है। रसौया इसी बात की नौकरी पाता है। नहीं काम कर सकते, तो अपना रास्ता लो जी। "खरी मंजूरी चोखा काम" कोई अहसान तो हमारे ऊपर कर ही नहीं रहे हो। इसलिये प्रकाशन की असुविधाओं को यहाँ नहीं कहूँगा। यद्यपि मैं तो शरीर से, नियम की

रस्सी में कसकर बँधा हूँ, कहीं जा आ नहीं सकता। दौड़ धूप करने वाले मादकजी, परमहंसजी, राम जी आदि-आदि हैं, फिर भी मानसिक संकल्प तो देना ही पड़ता है। यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ, समय पर नहीं निकलेगी आदि आदि। यह ही मेरे लिये क्या कम झंझट है।

इस लिये भैया चाहें कोई ऐं करो चाहें चें करो। ३-४ खण्ड तो अब मैंने कह दिया है, तो जैसे तैसे निकलवा ही दूँगा। फिर भैया, तुम जानो तुम्हारा काम जाने। वीरम बाबू जानें, चाहें सूर्य नारायण बाबू, आदित्यबाबू जानें, विपिन जी जानें, चाहें परमहंसजी, रामजी जाने चाहें शंकर जी। अपने राम तो फिर हाथ जोड़ देंगे। इस विषय में अपनी प्रवृत्ति भी नहीं, योग्यता भी नहीं। इससे कहा, उस से कहा, इसकी चिन्ता, यह मुझसे होने का नहीं। सो भैया! हमारे वश का तो यह झंझट है नहीं। हम तो स्पष्ट कह देंगे—

सोलह रोटी खाउँ, भरोसो राम को।

मेरे वश की नाहिँ, धँसो कोइ गाम को।

किसी गाँव में कुआ बन रहा था। पक्के गोले को बनाकर उसे जो नीचे गरकाते हैं उन्हें 'सेहा' कहते हैं। एक बटोही जा रहा था, उसे बड़ी भूख लग रही थी, उसने युक्ति निकाली कि किसी तरह पेट भरना चाहिये। वह कुए के पास गया। इधर उधर झाँकने लगा, कूए वालों ने समझा यह भी कोई 'सेहा' होगा, पूछा—"आप भी कुछ सेहाई जानते हैं क्या?" उसने उपेक्षा के स्वर में कहा—"अजी, ऐसे ही कुछ थोड़ी बहुत।" घर से रोटी आई हुई थीं। कुए वालों ने कहा—"अच्छी बात है, पहिले आप रोटी खालें।" यहो तो उसे अभीष्ट

हो ?" उसने कहा—"जी, मेरा अमुक जगह फर्म है। वहां उसका काम देखने जा रहा हूँ।" मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा—"भैया, तुम अकेले कैसे जा रहे हो, तुम्हारे पिता, भाई कोई साथ नहीं, मुनीम-नौकर कोई लिया नहीं। बड़ा साहस है तुम्हारा, अकेले ही जा रहे हो।" बच्चा हँस पड़ा और बोला—"जी, इसमें साहस की क्या बात है, सी० पी० में मेरी कई जगह फर्म हैं, मैं सदा ऐसे ही जाता हूँ। पिता जी का देहान्त हो गया, भाई मेरे कोई है नहीं। मैं ही दो साल से काम देखता हूँ। नौकर स्टेशन पर मुझे बैठा गया था। वहाँ स्टेशन पर मुनीम मिलेगा, उसे तार दे रखा है, फिर एक आदमी का किराया व्यर्थ खर्च क्यों करूँ ?" मैंने अपना माथा ठोका। अपने यहाँ गाँवों में १२-१३ वर्ष के लड़के धोती बाँधना नहीं जानते। दो पैसे का साग नहीं ला सकते। यह पट्ठा इतने बड़े फर्म का काम सम्हाल रहा है।"

बात यह है, कि अब तो वृत्ति संकर, वर्ण संकर, आश्रम सङ्कर हो गया है। पहिले कुल परम्परा की सदोष वृत्ति को भी मनुष्य जान बूझ कर नहीं त्यागते थे। महाभारत का इतना भारी युद्ध इसी आधार पर हुआ। धर्मराज ने कहा—"हम समर्थ होकर, दूसरे के आश्रय में रहकर, भीख माँगकर दिन नहीं काट सकते। यह हमारे वर्ण धर्म के अनुकूल नहीं है।" वंश परम्परा की वृत्ति में अपने पूर्वजों के संस्कार हमें स्वतः प्राप्त होते हैं। आज सभी अपनी कुलागत वृत्ति को छोड़कर अन्य-अन्य वृत्तियों का आश्रय ग्रहण करने लगे हैं। काल धर्म है, अब उन पैतृक वृत्तियों से काम भी नहीं चलता, जीवन निर्वाह नहीं होता। विधर्मी लोगों के संसर्ग से हमारी वह धारणा नष्ट प्रायः हो चुकी है। अब तो जैसे भी हो तैसे, पेट पालना ही धर्म रह गया है। समय का प्रभाव है।

अरे, यह तो मैं बहक गया, प्रसंगान्तर कर बैठा। हाँ, तो रामजी को तो यह समझा दिया। किन्तु माघ मास में बीरम बाबू आये। उन्होंने भी इस बात पर बल दिया, कि पुस्तक यहीं से प्रकाशित हो, हम लोग भी यथाशक्ति देख रेख करेंगे। चैत्र के उत्सव पर सभी जुटे थे, शंकरजी, वीरमबाबू हरिशंकरबाबू, कबूलसिंह जी, दादू जी, सेक्रेटरीसाहब, रायबहादुरसाहब सबने मिलजुल कर यही तै किया, कि अच्छा है जैसे और कार्य होते हैं, यह भी हो। आपको कुछ करना न पड़ेगा, हम सब देख रेख करेंगे। शंकर जी ने अपने जिम्मे देख-रेख का काम लिया, और कहा—आप ३-४ खण्ड अपनी देख रेख में निकलवादें। फिर आप देखें भी नहीं।"

मैं तो सब समझ रहा था। ये सब मुझे फँसाने के चक्कर हैं। ये भगत लोग ही चाहें तो पंख लगाकर आकाश में उड़ा सकते हैं और चाहें तो ठेलठाल के रसातल में पहुँचा सकते हैं। सब समझते हुए भी मेरी वासना कहिये, लोभ कहिये, मान प्रतिष्ठा के प्रसार की अभिलाषा कहिये, या प्रारब्ध का चक्कर कहिये। मैंने इसे स्वीकार कर लिया। उसी के फल स्वरूप यह प्रथम खण्ड निकल कर पाठकों के कर कमलों में उपस्थित है।

यद्यपि नियमानुसार मेरा इस प्रकाशन से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। मेरी अन्य बहुत सी पुस्तकें भिन्न भिन्न प्रकाशकों के यहाँ से भिन्न-भिन्न समयों में निकली हैं। वैसी ही यह भी एक निकल रही है। नई बात तो कोई हुई नहीं। किन्तु इस बात को छिपाना दम्भ या महापाप होगा, कि अन्य प्रकाशकों की अपेक्षा इस पुस्तक के प्रकाशकों से मेरा घनिष्ट ममत्व है और अनर्थ की जड़—पतन का कारण—ममत्व ही है। घर की बिल्ली चूहों को खाती है, तो दुःख नहीं होता। किन्तु जब पींजड़े

था। मोटी-मोटी रोटी चने के साग के साथ सोलह खा गया। खाकर ऊपर से मट्ठा पिया। पेट भर गया। हुक्का तमाखू पीकर जब स्वस्थ हुआ, तब लोगों ने कहा—"अब चौधरी जी, घुसिये कूए में।" तब चौधरी महोदय हाथ जोड़कर बोले,

"सोलह रोटी खाउँ, भरोसो राम को।
मेरे वश की नाहिँ, धँसो कोई गाम को।"

सो, भैया! लिखवाने के लिये, चाहे मुझसे सिर पर चढ़कर चाहें जितना लिखवा लो। महीने में यदि दो खंड भी निकालो, तो रो गा-कर पूरा कर दूँगा, किन्तु यह प्रकाशन का रोग मेरे वश का नहीं है। लिखने में भी जब कोई हर समय खोदता रहे, तब हो सकता है। अब तक यही क्रम रहा, जो लिखी जाती, उसकी श्रीनिवास रोज कथा कहता रहा है। शीघ्र लिखने में बहुत सी अशुद्धियाँ भी मुझसे रह जातीं हैं। लिखकर दुबारा पढ़ने का समय नहीं। सोचा था, प्रूफ में ये अशुद्धियाँ दूर हो जायँगी। किन्तु मैं गंगा के इस पार झूसी में और छपाई गंगा के उस पार प्रयाग में, सो भी बड़े झंझट से, बड़ी शीघ्रता में हुई, प्रूफ न देख सका। यदि अशुद्धियाँ रह गई हों, तो पाठक उन्हें स्वयं शुद्ध कर लें और हमारी विवशता पर ध्यान देकर क्षमा करें।

जितनी सुन्दर निकालने की यहाँ के कार्य-कर्ताओं की अभिलाषा थी, उतनी सुन्दर वे न निकाल सके। क्योंकि ग्रीष्मावकाश के अनंतर सभी विद्यालयों के खुलने का यही अवसर था। सभी प्रेस पाठ्य-पुस्तकों और विद्यालय सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त रहे। चित्रों के ब्लाक आदि भी सुन्दर, समय पर न बन सके। इन सब साधन सामग्रियों के मिलने में आजकल बड़ी असुविधायें हो गई हैं। किन्तु पाठकों ने इसे अपनाया तथा उत्साह पूर्वक इसके प्रचार में सहयोग दिया और शीघ्रातिशीघ्र यथेष्ट

स्थाई ग्राहक बन गये, तो हमें आशा है कार्य-कर्त्ता आपकी सुन्दर से सुन्दर, ठोस और सुविधाजनक सेवा कर सकेंगे।

यह सब तो हुई व्यवहार की बातें। अब अन्त में मेरी 'भागवती कथा' के पाठकों से एक ही प्रार्थना और है, वह यह कि वे मुझे उदारता पूर्वक यह आशीर्वाद दें, कि मेरी श्रीहरि के चरणारविन्दों में अहैतुकी भक्ति हो। 'भागवती कथा' को भगवत् भक्त ही पढ़ेंगे, जिनके हृदय में तनिक भी भक्ति न होगी, उनके हाथ में तो यह जायगी ही नहीं। यदि भूल से चली भी जायगी, तो वे देख कर नाँक भौं सिकोड़ कर रख देंगे, पढ़ेंगे नहीं। पढ़ेंगे वे ही, जो भगवत् भक्त होंगे। अथवा भक्त बनने के उत्सुक होंगे। ऐसे भगवत् भक्तों का हृदय से दिया हुआ आशीर्वाद कभी विफल नहीं होता। यदि सभी मुझे आशीर्वाद देंगे, तो इस पतन से भी मैं निकल कर उत्थान पथ की ओर अग्रसर हो सकूँगा और सब से श्रेष्ठ उत्थान यही है, कि निरंतर भगवत् स्मृति बनी हरे।

"हरिस्मृतिः सर्वविपद् विमोक्षणी"

त्रिवेणी संगम में,
संकीर्तन भवन, झूसी प्रयाग,
आषाढ़; शुक्ल ११, सं २००३ वि०

भागवतों की चरण रज
प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

॥ श्री हरिः ॥

भागवती कथा

भूमिका

त्रिवेणीं माधवं सोमं भरद्वाजं च वासुकिम् ।
वन्देऽक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम् ॥१

छप्पय

तीरथराज प्रयाग याग कमलासन कीन्हें ।
अक्षयवट-वर विटप मनोवांछित फल दीन्हें ॥
गंगा यमुना रलीं मिलीं मन मोद बढ़ायो ।
सोमेश्वर ने जहाँ सोम को शाप छुड़ायो ॥

वैंणी माधव बसैं वर, बारह वेष बनाय कें ।
वन्दन करि विनती करें, चरण कमल सिर नाय कैं ॥

जगदुद्धारिणी श्री गंगा जी जहाँ आकर पटरानी श्री यमुना जी से मिली हैं, उस परम पावन पुण्य प्रदेश प्रयागराज की महिमा का वर्णन कर ही कौन सकता है। जहाँ कभी भी

---

१ श्री त्रिवेणी, श्री माधव, श्री सोमेश्वर, श्री भरद्वाजमुनि, श्री वासुकि, श्री अक्षयवट, श्री शेष जी तथा तीर्थनायक प्रयागराज को मैं प्रणाम करता हूँ ।

क्षय न होने वाला नित्यशाश्वत अक्षयवट प्रतिष्ठित है, जहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती की त्रैलोक्य को पावन करने वाली त्रिगुणमयी त्रिदेवमयी तीन धारायें हैं, जहाँ वारह वेष वना कर श्री माधव जी नित्य ही निवास करते हैं, जहाँ शिव जी अपने अनेक अद्भुत रूप रख कर इस क्षेत्र के चारों ओर विराजते हैं, जहाँ ब्रह्मदेव अक्षयवट के मूल में नित्य ही सन्निहित रहते हैं, उस तीनों देवों के निवास भूत प्रयाग क्षेत्र का माहात्म्य वर्णन करना, सूर्य्य को दीपक से दिखाने के ही समान है। स्वयं तीर्थराज भी समस्त त्रिभुवन के तारक तीर्थों के एक छत्र सम्राट हैं। उनका अनन्त भांडार, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों से—निरन्तर बाँटते रहने पर भी सदा भरा ही रहता है। करोड़ों तीर्थों की जिनकी बड़ी वेगवती और बलवती सेना है, उग्र से उग्र पापों के विनाश करने में जो सदा अव्यग्र भाव से तत्पर रहते हैं; गंगा, यमुना की उत्ताल तरंगें ही जिनके गंगा यमुनी सितासित चँवर हैं, हरे-हरे पल्लवों वाला अक्षयवट ही जिनका नीलात पत्र-छत्र है। उन तीर्थराज की पावनता का वर्णन करना पवित्रता को भी संकोच में डालना है।

इस तीर्थ नायक की इतनी पावनता से प्रसन्न होकर लोक-पितामह ने इसे अपना क्षेत्र बनाया, इसलिए प्रयाग का दूसरा नाम 'प्रजापति क्षेत्र' भी है। कमल योनि भगवान ब्रह्मा ने यहाँ प्रकृष्ट प्रकृष्ट यागों की झड़ी सी लगा दी, इसीलिए यह 'प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यज्ञों की स्थिति बनाये रखने को वेदगर्भ चतुरानन ने यहाँ तीनों अग्नियों के तीन विशाल कुण्ड बनाये। इन तीनों के बीच से श्री गंगा जी और यमुना जी बहीं। श्री सरस्वती जी गुप्त रूप से आकर इन दोनों से

मिलीं। इसीलिए प्रयाग के षट कोण और तीन विभाग हुए। षट कोण वाला यह क्षेत्र तीन विभागों में बँटा है। श्री गंगा, यमुना के संगम पर खड़े होने से षट कोण स्पष्ट दीखते हैं। दो तट गंगा जी के, दो तट यमुना जी के और दो दोनों का मिश्रित धार के। गंगा-यमुना के बीच के भाग को जहाँ गार्हपत्याग्नि का कुण्ड था, उसका नाम प्रयाग हुआ। यमुना जी के पार जहाँ दक्षिणाग्नि का कुण्ड था उसे अलर्कपुर (अरैल) कहते हैं और जहाँ आहवनीय अग्नि का कुण्ड था। गंगा के उस पार के पुण्य प्रदेश का नाम प्रतिष्ठानपुर है। पुराणों में प्रतिष्ठानपुर की बड़ी महिमा है। यहाँ सभी तीर्थों की प्रतिष्ठा होने से ही इसे प्रतिष्ठानपुर कहा गया। त्रिवेणी संगम प्रतिष्ठानपुर (झूसी) के ही सन्निकट है। चन्द्रवंशी राजाओं की यह आदि राजधानी है। अब भी यहाँ अनेक तीर्थ हैं। उस पार दारागंज में जहाँ श्री ब्रह्मा जी ने दस अश्वमेध यज्ञ किये थे, उस दशाश्वमेध घाट के ठीक सामने इस पार झूसी में यज्ञ तीर्थ है। अब भी जब दिवाल बनाने को धरती खोदी गई, तो उसके नीचे से यज्ञ-भस्म की तरह बहुत सी मिट्टी निकली। अब, जहाँ नित्य पुराण प्रवचन और कृष्ण कीर्तन होता है, जहाँ तुलसी कानन और पुराण पठन होने से नित्य ही श्री हरि का निवास है। उस पवित्र यज्ञ तीर्थ में गुप्त और प्रकट रूप से बहुत से सन्त, महात्मा एकत्रित होते हैं। परम्परा से ऐसी प्रसिद्धि है—और यह अनुभूत सत्य है—कि हजारों, लाखों वर्ष के महात्मा गुप्त रूप से प्रतिष्ठानपुर (झूसी) में निवास करते हैं। प्रकट रूप से तो प्रतिष्ठानपुर (झूसी) साधु-सन्तों की बस्ती ही है। सन्त-महन्तों के बहुत से आश्रम और कुटियायें श्री गंगा जी के

किनारे-किनारे बनी हुई हैं। यह दीन-हीन, मति मलीन, साधना विहीन, क्षुद्र सेवक भी उसी यज्ञ तीर्थ में निवास करता है। वैसे तो आस-पास और भी साधु, संन्यासी, विरक्त, ब्रह्मचारी रहते हैं, किन्तु हम लोग दो ही हैं—एक मैं और एक मेरा चेला।

आप कहेंगे आप इन चेला चँटारियों के चक्कर में क्यों फँस गये? जब आपने अपना घर छोड़ा, सब सम्बन्धों से मुँह मोड़ा, तो फिर अकेले विरक्त-भाव से रहना चाहिए। शिष्य में और सुत में अन्तर ही क्या, दोनों ही बन्धन हैं। यह तो वैसी ही बात हुई कि "खाई से निकले तो कुए में जाकर गिर पड़े।" गृहस्थ के सम्बन्ध छोड़ कर तीर्थ में आये। यहाँ नई गृहस्थी बना कर फिर फँस गये। फिर चेला बनाने से मान प्रतिष्ठा बढ़ती है, उसे स्वीकार करने से पतन होता है। अतः पूजा प्रतिष्ठा से पृथक् रह कर चुपचाप शान्ति भाव से भजन करना चाहिए।

यह बात सत्य है, कि शिष्य बनाने से बन्धन हो जाता है। शिष्य लोग गुरु की पूजा प्रतिष्ठा अपना कर्तव्य समझ कर करते हैं। मान प्रतिष्ठा स्वीकार करने से पतन की सम्भावना भी पग-पग पर बनी रहती है। किन्तु मुझे बताओ, किस कार्य में पतन की सम्भावना नहीं? मैंने ऐसा सुना है, कि किसी प्रसिद्ध पुरुष ने जीवन भर एक भी मान-पत्र ग्रहण नहीं किया। जहाँ भी उसे मानपत्र देने का आयोजन होता, वहीं वह निषेध कर देता। उसने सम्मान का, मानपत्रों का सदा त्याग किया। आप सोचिये, मानपत्रों के ग्रहण का तो उसने त्याग कर दिया, किन्तु मानपत्रों के त्याग से जो शतगुणा सम्मान उसके ग्रहण न करने से हुआ, उसका वह त्याग न कर

सका। वह इस बात का गर्व करता था, मैंने एक भी मानपत्र स्वीकार नहीं किया। त्यागी—मेरे ये सम्बन्धी हैं, मेरी यह जाति हैं, मेरा यह वर्ण और आश्रम है, इन बातों का त्याग भले ही कर दे। वस्त्रों को—यहाँ तक कि लँगोटी को भी—त्याग दे, किन्तु त्याग का अभिमान तो उसे बना ही रहता है। शिष्य करने से जो मान हुआ है, उस से बढ़ कर जो शिष्य न करने का सन्मान और अभिमान है, उसका जिसने त्याग किया है, वही तो सच्चा त्यागी है। नहीं तो शेष सभी व्यापार हैं। अधिक सन्मान प्राप्त करने के उपाय हैं, कि हम उन लोगों से श्रेष्ठ हैं, जो सब किसी को चेला मूड़ते फिरते हैं। हम किसी के कान नहीं फूँकते। कान न फूँको, उनके चित्त को तो खींचते हो, मानसिक चेष्टा तो ऐसी रहती है, यह हमारे ही यहाँ फँसा रहे, कहीं दूसरी जगह मुड़ न जाय। यह भी शिष्य करना ही हुआ। द्रविड़ प्राणायाम हुआ। इधर से नाक न पकड़ी घुमा फिरा कर पकड़ ली। जो कहता है—चेला नहीं करने चाहिए, मैं किसी को चेला नहीं करता। समझ लो वह सभी को अपना चेला बनाना चाहता है। नहीं, उसे किसी से कहने का अधिकार ही क्या है। जगत गुरु बनने की प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक इच्छा होती है। अपने पीछे अपना वंश बना रहे, यह कभी न मिटने वाली मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है। जब तक पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं होता, विशुद्ध-भक्ति की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी यह वासना नहीं जाती। आप चाहे लें करें चाहे चें करें। यह रहेगी, रहेगी, अवश्य रहेगी। कोई इसे न मेट सका है, न मेट सकता है। प्रकारान्तर है नहीं तो वे ही सेमर के दो पात हैं।

वंश दो प्रकार का होता है। एक बिन्दुवंश, एक नादवंश।

जो अपने वीर्य से वंश चलता है–पुत्र पौत्र, आदि–उसे विन्दुवंश कहते हैं। इसका आधान मातृयोनि में किया जाता है। वहीं से यह बृद्धि को प्राप्त होता है। नादवंश उसे कहते हैं, जो मन्त्र परम्परा से बढ़े, इसका आधान कान में, हृदय में, मन में, गुरु करता है। इसी परम्परा को गुरु परम्परा कहते हैं। एक से दूसरे पर शक्ति आती है। यह शिष्य, प्रशिष्य रूप में बृद्धि को प्राप्त होता है। इस वंश परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने को सभी गृहस्थी सुयोग्य पुत्र की इच्छा रखते हैं और परमार्थ-पथ के पथिक—चाहें वे गृही हों या विरागी—सभी अपनी शिष्य परम्परा बनाये रखने को उत्सुक रहते हैं।

इस प्रकार दोष ही देखा जाय, तो सभी में कुछ न कुछ दोष अवश्य मिलेगा। संसार में भगवान के सिवाय निर्दोष तो कोई है ही नहीं। अब रही यह बात, कि उस दोष का निवारण किस सरल उपाय से, किस उत्तम युक्ति से किया जाय, इसी का नाम साधन है। हाँ, विरक्तों के लिये बहुत शिष्य आदि बनाना निषेध है। जिनकी शिष्य बनाने की बृत्ति है, वे तो बनाने को विवश ही हैं, किन्तु जो बृत्ति का त्याग करके विरक्त बने हैं, शास्त्रकारों ने उनको शिष्य आदि के चक्कर में पड़ने को निषेध किया है—

"नशिष्याननुबद्धनीयात् ग्रंथानैवाभ्यसेत्बहून्"

भाषा में एक से अधिक जितनी वस्तु हैं, सब की 'बहु' संज्ञा है, किन्तु संस्कृत में एकवचन, द्विवचन और बहुवचन इस प्रकार तीन वचन माने हैं। अर्थात् दो से अधिक जहां वस्तुएँ हुईं, उनकी बहुसंज्ञा हो जाती है। यहाँ "शिष्यान्" यह बहु वचन है। इसका तात्पर्य हुआ कि चाहे तो एक शिष्य या

बहुत से बहुत दो शिष्य बना ले । दो से अधिक शिष्य, त्यागी विरागी, संन्यास वृत्ति से वर्तने वाले पुरुष को नहीं बनाने चाहिये । इसी प्रकार "बहुत से ग्रन्थों का अभ्यास भी न करे।" यहाँ अन्य ग्रन्थों के पढ़ने का ही निषेध नहीं है । 'अभ्यास' शब्द का अर्थ होता है, एक वस्तु की बार-बार आवृत्ति करना अर्थात् ग्रन्थों को प्रसंगवश देखना पड़े तो देख ले, किन्तु उपनिषद् ब्रह्मसूत्र आदि एक या दो ग्रन्थों की बार-बार आवृत्ति करता रहे ।

इसी न्याय के अनुसार मैं ने दो तो अभी नहीं बनाये, एक शिष्य बनाया है और एक ही ग्रन्थ—श्रीमद्भागवत महापुराण परमहंस संहिता—की बार-बार आवृत्ति करना निश्चित किया है, क्योंकि इसमें उपनिषद् वेदान्त आदि सभी शास्त्रों का सार आ जाता है ।[1]

मुझे निरन्तर श्रीमद्भागवत का ही पारायण करते देख कर एक दिन मेरे शिष्य ने पूछा—"महाराज जी, आप श्रीमद्भागवत का ही सदा पाठ क्यों किया करते हैं ?"

मैंने कहा—भैया, श्रीमद्भागवत तो सभी शास्त्रों का सार है । सभी वेद वेदान्त, इतिहास पुराणों का सार ले लेकर श्रीशुकदेव जी ने राजा परीक्षित को सुनाया था । जब सब का सार ही मिल गया, तब फिर अन्य शास्त्रों में श्रम करना केवल भ्रम मात्र ही है ।

---

१ अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि ।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ श्रीमद्भागवताभिधः ॥
२ सर्व वेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
स तुसंश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ॥

शिष्य ने कहा—"अच्छा, यह तो ठीक है; किन्तु आप श्रीमद्भागवत के बहुत से सप्ताह करते कराते हैं। जहाँ जाते हैं, वहीं सप्ताह करते हैं इस का क्या अभिप्राय ?"

मैंने कहा—"तुम बड़े पागल हो जी ! इतना भी नहीं समझते, सप्ताह किसे कहते हैं ? श्रीमद्भागवत का ७ दिन में पारायण करने का नाम सप्ताह है।"

शिष्य शीघ्रता के साथ बोला—"नहीं महाराज जी ! यह तो मैं समझता हूँ, सात दिन में पारायण को सप्ताह कहते कहते हैं, किन्तु मेरे पूछने का अभिप्राय यह है, कि हम सात दिन ही में क्यों करें ? एक वर्ष में करें, दो वर्ष में करें, ६ महीने में करें।"

मैंने कहा—"हाँ, यह भी ठीक है। सप्ताह पारायण को राजस बताया है। मासिक परायण सात्विक है। एक वर्ष का तामस है। श्रीमद्भागवत के पाक्षिक, मासिक, वार्षिक सभी प्रकार के परायण होते हैं।"

शिष्य बोला—"किन्तु महाराज जी, आज कल सर्वत्र प्रथा तो "भागवत सप्ताह यज्ञ" की ही विशेष है। पाक्षिक मासिक पारायण यज्ञ तो कहीं सुनने में नहीं आते।"

मैंने कहा—भैया, देखो, सप्ताह यज्ञ का माहात्म्य विशेष माना गया है। पद्मपुराण के 'अन्तर्गत ६ अध्यायों में श्रीमद्भागवत का महात्म्य वर्णन किया है। वह प्रायः वर्तमान प्रचलित सभी श्रीमद्भागवत की पुस्तकों के साथ छपा रहता है। उसमें श्रीमद्भागवत के ही सप्ताह की प्रशंसा की है। उसी का गुण-गान किया है। और भैया ! ठीक भी है। ये कलियुगी जीव बहुत लम्बा चौड़ा व्रत, उपवास, अनुष्ठान कर भी नहीं सकते। सत्य शौचादि से मुक्त होकर दीर्घ कालीन यज्ञ की दीक्षा में

स्थिर नहीं रह सकते। मन का चिरकाल तक विरोध नहीं कर सकते। उनके लिये यह सप्ताह यज्ञ बहुत ही उत्तम है। ७ दिन तक बहुत उत्साह बना रहता है। विघ्नों की सम्भावना नहीं रहती, इसलिये सप्ताह यज्ञ की प्रशंसा है और यह यज्ञ सर्वोपयोगी भी है। इसी से इसकी सर्वत्र प्रशंसा है।"

शिष्य ने पूछा—"तब तो इस सप्ताह यज्ञ की प्रथा प्रचीन ही है।"

मैं ने हँस कर कहा—"तो क्या मैं ने अपने आप बना ली है। सनातन प्रथा है। महाराज परीक्षित को ऋषिकुमार ने शाप दे दिया था कि तुम्हारी मृत्यु ७ दिन में हो जायगी। इसी लिये भगवान शुक ने उन्हें संपूर्ण शास्त्रों की सार भूत इस परमहंस संहिता को ७ दिन में ही सुनाया था। तभी से सप्ताह की प्रथा चल पड़ी। फिर सनकादि मुनियों को नारद जी ने भी सप्ताह सुनाया। फिर सूर्यदेव की आज्ञा से गोकर्ण ने भी अपने भाई धुन्धकारी के उद्धार के निमित्त सप्ताह सुनाया। इस प्रकार यह सप्ताह की पुनीत परम्परा चल पड़ी।

शिष्य ने श्रद्धा के सहित कहा—"महाराज जी! देखिये, महाराज परीक्षित् सभी शास्त्रों के ज्ञाता थे, वे धर्मात्मा और बहुश्रुत थे। सभी ऋषि मुनि पण्डित विद्वानों का वे सदा सम्मान और सत्सङ्ग करते रहते थे। उनकी लोक-प्रियता तो इसी से सिद्ध होती है, कि जहाँ मुनियों ने उनकी मृत्यु का सम्वाद सुना, कि सभी देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, राजर्षि तथा अन्यान्य ऋषि-मुनि सिद्ध अपने-अपने शिष्य-प्रशिष्य पुत्र-पौत्रों के सहित उनके समीप स्वतः ही दौड़े आये। जो मुनि बहुत बुलाने पर भी किसी के समीप नहीं जाते थे, वे बिना बुलाये

उनके पास अपने आप चले आये। जो शुकदेव जी जितनी देर में एक गौ दुही जाती है, उतनी देर से अधिक कहीं ठहरते ही नहीं। वे भी योगबल से सब जान कर व्यग्रता के साथ दौड़े आये और बिना कहे ही अपने आप आसन पर जा बैठे और ७ दिन तक एक ही स्थान में रह कर कथा सुनाते रहे। इन सब बातों से पता चलता है, कि महाराज बड़े गुणग्राही, शास्त्रों के ज्ञाता और विद्या-व्यासंगी थे। ऐसे तो वे श्रोता थे। उन्हें घेर कर जो ऋषि-मुनि बैठे थे, जिन्होंने परीक्षित् के साथ ही साथ श्रीभागवत सप्ताह सुना, वे भी एक से एक ज्ञानी-विज्ञानी सर्व संशय छेत्ता, वह्मवेत्ता तथा सर्व-शास्त्र विशारद थे। सप्ताह यज्ञ के ये सब तो श्रोता हुए। इनके अनुरूप ही वक्ता भी थे। श्री शुकदेव जी के सम्बन्ध में तो जो भी कहा जाय वही कम है। उन्हें न कहने में श्रम हुआ और राजा परीक्षित् को तथा अनान्य ऋषि-मुनियों को समझने में ही श्रम हुआ होगा। श्रीशुक शास्त्रों का संकेत करते गये, सर्व-शास्त्र संस्कारी श्रोता सुनते ही सब समझते गये। वहाँ तो ७ दिन में ज्ञान-मुक्ति और भक्ति की प्राप्ति ठीक ही थी। यही बात कुमार और नारद जी के सप्ताह के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। मैं यह नहीं कहता, कि सप्ताह यज्ञ न हों। शास्त्रों की विधि है, तो अवश्य होने ही चाहिये। उन दिव्य मंत्रवत् भागवत के श्लोकों को बिना समझे—श्रवणमात्र से ही—पापों का क्षय तो होता ही होगा; किन्तु विशेष फल तो यथार्थ अर्थ समझने से ही होता होगा।

उस समय सर्वत्र संस्कृत का प्रचार था, वक्ता बोलते गये, श्रोता सुनते ही समझते गये। किन्तु अब तो उतना संस्कृत का प्रचार नहीं। पहिले संस्कृत में पाठ करो फिर भाषा अर्थ करो। इतनी शीघ्रता से सब श्लोकों का सम्पूर्ण अर्थ भी नहीं

होने पाता, इसीलिए उसका सम्पूर्ण अभिप्राय समझ में नहीं आता।"

मैंने कहा—"हाँ, भाई! यह तो तुम्हारी बात ठीक है। केवल शास्त्र शब्द श्रवण मात्र का ही फल होता है। अर्थ तो सम्पूर्ण होता भी नहीं। होता भी है, तो सब श्रोता समझ नहीं पाते।"

इस पर शिष्य ने बड़ी विनय के साथ कहा—"तो महाराज जी, मेरी एक प्रार्थना है।"

मैंने कहा—"कहो, क्या बात है?"

शिष्य बोला—"महाराज जी! मैं यह चाहता हूँ, कि आप भाषा में श्रीमद्भागवत का भावार्थ समझावें। पद्य में नहीं, गद्य में। क्योंकि पद्य को समझने के लिये भी बड़ी बुद्धि चाहिये। उसके लिये भी दूसरे समझाने वाले की आवश्यकता पड़ती है। पद्य में विस्तार से वर्णन तो होता नहीं। कम शब्दों में बहुत भाव प्रकट किये जाते हैं। अतः साधारण पढ़े लिखे स्वयं पढ़ कर उसे नहीं समझ सकते। गद्य में तो चाहे जितना बढ़ा दो। एक बात को बार-बार विस्तार से समझा दो। उसमें कोई रोक टोक ही नहीं। इसलिए आप गद्य में ही समझावें। पद्य भी कहीं-कहीं हों। वे भी सरल और सबके समझने योग्य हों।

जब जीवन का एक मात्र ध्येय भगवत और भागवतों का गुणगान ही है, तब समय का सङ्कोच न करें। विस्तार का भय न करें। आपने कहा—श्रीमद्भागवत सब शास्त्रों का सार है। इसलिए आप पहिले से संक्षेप में सभी शास्त्रों का सार सिद्धान्त समझावें, फिर यह बतावें, कि यह सिद्धान्त श्रीमद्भागवत में कहाँ, किस स्थल पर, किस रूप में, कैसे प्रकट किया है? वेदों में किस विषय का विशेष विवरण है, पहिले इसे बताइये। पुनः किस

वेद का भाव श्रीमद्भागवत में कहाँ-कहाँ आया है, इसका उल्लेख करें।

स्मृति धर्म शास्त्र व्याकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त छन्द आदि वेदाङ्गों का विषय बता कर श्रीमद्भागवत में इनका किस जगह सन्निवेश है, यह समझावें। दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय क्या है? न्याय दर्शनका मुख्य तत्व कौन सा है? योग शास्त्र का अंन्तिम लक्ष्य क्या है? सांख्य का संक्षिप्त सिद्धान्त बताइये। इसी तरह वैशेषिक, पूर्वमीमांसा का सार सिद्धान्त बता कर यह भी बतावें कि श्रीमद्भागवत में कहाँ-कहाँ इनके सिद्धान्तों का किस रूप से उल्लेख है। ब्रह्मसूत्रों का संक्षिप्त विवरण बतावें। वेदान्त का अभिप्राय समझावें। वेदान्त सूत्रों से अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत किस प्रकार सिद्ध किया गया है? उन्हीं एकसे सूत्रों से भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्तों को किस प्रकार पुष्ट किया है? इसे बता कर यह बतावें, कि उनका बीज श्रीमद्भागवत में कहाँ और किस प्रकार है क्योंकि श्रीमद्भागवत तो सभी वैदिक आस्तिक आचार्यों को मान्य है। उसका आदर सभी सम्प्रदायों में समान भाव से है। फिर यह बतावें कि ब्रह्म पुराण में किसका विशेष वर्णन है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्म पुराण के कौन-कौन से विषय, कौन-कौन सी कथायें, किस-किस रूप से ग्रहण की गई हैं? कौन-कौन से श्लोक ज्यों के त्यों भागवत में मिलते हैं और कौन से कुछ हेर फेर के साथ? इसी तरह पद्म पुराण, विष्णु पुराण, शिवपुराण, देवी भागवत, नारद, मारकण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड पुराणों के भी सम्बन्ध में बतावें। उपपुराण और औप पुराणों में क्या विषय है, उनके साथ

श्रीमद्भागवत का कहाँ-कहाँ कैसा सम्बन्ध है, इसे भी संक्षेप में बतावें। पुराणों के जो सर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय हैं, इनका विस्तृत विवरण बताइये। जैसे सृष्टि कैसे हुई, सृष्टि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न पुराणों में कितने प्रकार के मत हैं, उनमें इतना भेद क्यों हैं श्रीमद्भागवत में कै प्रकार से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। इस प्रकार दशों का विवरण बतावें।

भक्ति मार्ग के कितने भेद हैं, श्रीमद्भागवत में उनका कहाँ-कहाँ वर्णन है? नाम माहात्य का महत्व और श्रीमद्भागवत में इसका कैसे कहाँ उल्लेख है यह भी बताइये। सभी उपनिषदों के कौन-कौन से विशेष वाक्यों का भागवती भाषा में कहाँ-कहाँ वर्णन आता है, यह भी समझावें। महाभारत का सार सिद्धान्त बता कर फिर यह समझावें, भारत की कौन-कौन सी कथाओं के साथ भागवत का सामञ्जस्य है? कौन सी कथाओं में किस कारण से कुछ अन्तर सा प्रतीत होता है? श्रीमद्भागवत के स्तोत्रों का, स्थान-स्थान पर आई हुई स्तुतियों का विशेष महत्व बताइये। उनकी विषद व्याख्या कीजिये। पुराणों की कौन सी कथाओं को श्रीमद्भागवत में विशेष महत्व दिया गया है, इसे समझा कर इसका कारण बताइये। जो कथायें केवल संक्षेप में कह दी गई हैं या जिनको सरल समझ कर संकेत ही कर दिया गया है, उन्हें अपनी भाषा में विस्तार के साथ समझावें। श्रीमद्भागवत पर संस्कृत में, भाषा में तथा अन्य भाषाओं में जो व्याख्या टीका हुई हैं, उनकी भी विशेषता बताइये। इसके अतिरिक्त जो मैंने न पूछा हो और आपको हितकर प्रतीत हो, उसे भी समझावें। बिना पूछे भी कृपा करके बतलावें। मैं यह विषय सूची नहीं बता रहा हूँ, न यही

निवेदन कर रहा हूँ, कि इतने ही विषयों पर आप अपने विचार प्रकट करें। मैंने तो एक निर्देश मात्र कर दिया है। संकेत द्वारा अपना अभिप्राय समझा दिया है। अब आप जैसे उचित समझें—जिन-जिन विषय का समावेश करना चाहें वह--करें। ऐसी सरलता के साथ समझावें, कि साधारण से साधारण भाषा पढ़ा हुआ व्यक्ति भी समझ जाय।

अपने शिष्य की ऐसी लम्बी चौड़ी बातें सुन कर मैं बड़े जोरों से हँस पड़ा। हँसते हँसते मैंने कहा—"तैने ये सब बातें कहाँ से रट लीं ? तू तो सुनी सुनाई बातें बक रहा है। अरे, मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ ? इन शास्त्रों का मैंने विधिवत् अध्ययन नहीं किया। कुछ समझता बूझता भी नहीं, ऐसी विशाल बुद्धि भी नहीं, योग्यता भी नहीं। फिर भी इतनी बातों को कैसे बता सकता हूँ ? पगला कहीं का, चींटी से सुमेरु उठाने को कहता है। सरसों पर पृथ्वी रखने का प्रस्ताव करता है। सूर्य को दीपक में बिठाने की सोचता है। भैया, यह सब मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह सब करना कराना तो अलग रहा, इसका सोचना भी मेरे लिए दुस्साहस ही है।"

शिष्य ने रिरियाते हुए कहा—"नहीं, महाराज जी ! आप सब कुछ कर सकते हैं, आप सर्वज्ञ हैं। आपके लिए कोई कार्य कठिन नहीं। आपके संकल्प की देरी है। आप जो निश्चय कर लें और करने पर कटिबद्ध हो जायँ, तो न करने योग्य काम को भी सरलता के साथ कर सकते हैं।"

मैंने कहा—"तू मुझे क्यों बुद्धू बना रहा है। ठकुर सुहाती मीठी-मीठी बातें कह कर क्यों मुझे भुला रहा है। मैं तेरी इन चाटुकारिता की बातों में आकर भूलने वाला नहीं। मुझे अपनी अल्पज्ञता, आयोग्यता का पता है। तू भी जानता है, तू कुछ

अन्तःकरण से थोड़े ही कह रहा है। शिष्टाचार से ऊपर के मन से कह रहा है। तेरी प्रशंसा को सत्य समझ लूँ, तो मेरा पतन अवश्यम्भावी है। हाँ, यदि तू हृदय से मुझे ही क्या किसी पर अपना दृढ़ विश्वास कर ले, तो तेरा तो बेड़ा पार है। कुछ मेरे कारण नहीं, अपने विश्वास के बल पर तू तर जायगा। किन्तु तुझे वह भी तो विश्वास नहीं है। भीतर से मुझे अयोग्य समझता है, बाहिर से दिखाने को सर्वज्ञ कह रहा है। मैं तेरे चक्कर में न आऊँगा।"

शिष्य ने कहा—"महाराज जी! देखिये, मैं झूठा, मैंने आपकी बात मान ली। अच्छा, थोड़ी देर को मान लो आप में योग्यता भी नहीं, किन्तु श्रीमद्भागवत को तो आप मानते हैं?"

मैंने कहा—कहाँ मानता हूँ भैया, उसे मान लूँ तो मेरा बेड़ा पार ही न हो जाय।"

शिष्य अपनी बात पर बल देते हुए बोला—"मान लो, आप मन से नहीं मानते, आपका विश्वास भी नहीं, किन्तु पाठ तो करते हैं। बिना कुछ थोड़ी बहुत श्रद्धा के कोई इतना परिश्रम कभी भी नहीं कर सकता।"

मैंने कहा—"हाँ भैया, पाठ तो करता ही हूँ; किन्तु बेमन से बेगार सी टालता हूँ, बिना अर्थ समझे तोते की तरह रट जाता हूँ।"

अपनी बात बढ़ाने को वह बोला—"बिना अर्थ के ही सही, सेवन तो करते हैं। बल वाली औषधि बिना उसका बल-वीर्य समझे ही सेवन की जाय, तो क्या गुण न करेगी? अग्नि को अबोध बालक ही छुए, तो क्या वह न जलावेगी? विष को भूल में ही खा जाय, तो क्या वह अपना परिणाम न दिखावेगा?"

मैंने कहा—"हाँ, होता क्यों नहीं, विना समझे भी पाठ करने से लाभ होता है। श्रीमद्भागवत का सेवन तो सभी प्रकार से श्रेष्ठ ही है।"

अपने पक्ष को प्रबल होते देख वह उल्लास से उछल पड़ा और बोला—"अच्छा, जब श्रीमद्भागवत के सेवन से लाभ होता है, तो भागवत को तो आप श्रीकृष्ण का साकार वाङ्मय विग्रह बताते हैं ?"

मैंने कहा—"हाँ, भैया, श्रीमद्भागवत में तो ऐसा ही लिखा है ?"

वह हँसते हुए बोला—"श्रीमद्भागवत में तो ऐसा ही लिखा है, किन्तु उसे आप नहीं मानते ? क्यों यही बात है न ?"

मैंने कहा—"नहीं भाई ! अब कैसे कहूँ कि मानता हूँ। मानता होता तो आज ऐसे माया मोह में क्यों फँसा होता ? "नहीं मानता, ऐसा कहने का भी साहस नहीं होता। यह आस्तिकता के विरुद्ध है और मैं अपने को आस्तिक कहता हूँ।"

शिष्य बोला—"अच्छा, इससे यह सिद्ध हुआ, कि आप मानते तो हैं, किन्तु अपनी अयोग्यता के कारण उसकी शक्ति को धारण करने में अपने आपको योग्य नहीं समझते हैं ?"

मैंने कहा—"भैया, तैंने वकालत कब पढ़ ली ? तू तो बड़ी गहरी तर्क उपस्थित कर रहा है।"

वह कुछ कुपित हो कर बोला—"आप देखिये, महाराज ! मेरी हँसी न उड़ाइये। मेरी बात का उत्तर दें।"

मैंने कहा—"तेरी बात मूर्खता पूर्ण है, उसका कुछ उत्तर नहीं। भाग जा, अपना काम कर।"

वह नहीं गया और कहता ही रहा—"जिन्हें आप साक्षात् भगवान का रूप कहते हैं और ऐसा ही मान कर नित्य नियम से उनका सेवन आराधन करते हैं, फिर आप उनकी शक्ति पर विश्वास क्यों नहीं करते ? भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं। भगवान् की बात तो अलग रही, भगवान् के भक्त ही असम्भव बातों को सम्भव बना देते हैं। ज्ञानदेव जी ने भैंसे के मुख से सबके सामने वेद पाठ कराया। रैदास जी ने समस्त ब्राह्मण पंक्ति में अपने को बिठा कर दिखलाया, सबके सामने भगवत् मूर्ति को अपने पास बुलाया। और भी ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं। ब्राह्मण अपनी मंत्र शक्ति से पाषाण प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करके उसे देव बना देते हैं। जब भक्तों में इतनी सामर्थ्य है, तो भगवान् तो जिससे भी जो चाहें करा सकते हैं। बालक से बालक को भी बुद्धि योग देकर बड़े-बड़े शास्त्र कहला सकते हैं। पाँच वर्ष के ध्रुव में स्तुति करने की क्या सामर्थ्य थी, किन्तु भगवान् की कृपा होते ही उसने वेद, शास्त्र सम्मत कितनी भाव पूर्ण स्तुति की। आप श्रीभागवत की शरण लें, वे ही आपको शक्ति प्रदान करेंगी।"

मैंने कहा—"करेंगी, तो क्या तुझसे पूछ कर करेंगी। करेंगी तब देखा जायगा।"

उसने निराशा के स्वर में कहा—"तो क्या मेरी प्रार्थना निष्फल ही जायगी ?"

मैंने कहा—"तेरी प्रार्थना ही असम्भव है। जो काम मेरे सामर्थ्य के बाहर है, उसे तू करने को कह रहा है।"

वह बहुत ही कुपित होकर बोला—"आप असम्भव असम्भव ही कह रहे हैं। संसार में असम्भव क्या है, फिर

आपको हमारा भी तो ध्यान रखना चाहिये। हम सदा आपकी सेवा में रहते हैं।"

मैंने कहा—"भैया, असन्तुष्ट क्यों होता है? तू नाम को ही चेला है। वास्तव में मेरा गुरु है। सेवा वस्तु ही ऐसी है। जैसे सती साध्वी पतिव्रता स्त्री अपने अयोग्य पति को अपने सौजन्य से, सद्व्यवहार से अपने वश में कर लेती है। जैसे भक्त भगवान् को अपने वशीभूत कर लेता है। भगवान् उसके पीछे-पीछे फिरते हैं। उसी तरह तैंने मुझे अपने वश में कर लिया है। एक तो मैं जन्म का रोगी ठहरा, फिर सुख से रहने की भी वासना ह ही। मैं तेरे अधीन हूँ, यदि तू नहीं मानता तो एक उपाय है।"

उसने उल्लास के साथ कहा—"वह कौन सा उपाय है?"

मैंने कहा—"देखो नैमिषारण्य में जो ८८ हजार मुनि रहते थे, वे कुछ मर तो गये ही नहीं। वे हमारी तुम्हारी तरह बद्ध जीव तो हैं नहीं। वे नित्य जीव हैं। एक कल्प की उनकी आयु है। पृथ्वी पर कलियुग का प्रभाव देख कर वे यहाँ से महर्लोक में चले गये हैं। सूत जी वहाँ भी उन्हें नित्य प्रति कथा सुनाते हैं। उनके यहाँ साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक या वार्षिक पारायण का तो नियम है नहीं, नित्य ही कथा होता है। वे सब ब्रह्मज्ञानी ऋषि हैं। उन सब के कार्य लोक-कल्याण के ही निमित्त विशेष कर होते हैं। वे सर्वज्ञ ऋषि यह भी जानते हैं, कि अब पुण्य भूमि भारत में संस्कृत विद्या का पठन-पाठन अत्यन्त ही अल्प हो गया है। केवल संस्कृत मे कथा कहने से सर्व साधारण का उपकार नहीं हो सकता। अतः अब सूत जी वहाँ भाषा में ही कथा कहते हैं। उन

सर्वज्ञ ऋषियों से तो भूत, भविष्य, वर्तमान की कोई भी भाषा अज्ञात नहीं है। वे तो गुणग्राही हैं, भाषा का वे निरादर नहीं करते। भाषा की कथा को ही वे बड़े प्रेम से सुनते हैं।

सूत जी उस कथा को कहते हैं। उसे मैं सुन सकता हूँ और जैसा सुनूँगा वैसा लिखता जाऊँगा। तू पढ़ता जाना। अब तो योग्यता अयोग्यता का प्रश्न ही नहीं रहा। मैं तो एक लिखने का यन्त्र मात्र हुआ, किन्तु इसमें तेरी सहायता की अपेक्षा होगी।"

उसका मुख मंडल खिल उठा। वह उल्लास के साथ बोला—"हाँ, महाराज जी, जो आप आज्ञा करेंगे वह मैं करने के लिये तत्पर हूँ। मुझे क्या करना होगा? आप उस सम्वाद को कैसे सुन सकेंगे?"

मैंने कहा—"भैया, इस वायुमंडल में जो भी शब्द बोला जाता है; उसका नाश नहीं होता। उसे युक्ति द्वारा सुना जाय; तो चाहे जहाँ की बातें घर बैठे सुन सकते हैं। इसी प्रकार महर्लोक में जो सूत और ऋषियों का सम्वाद होता है, उसे हम और तुम दो ही एकाग्र होकर सुना करेंगे। तू अपनी चञ्चलता छोड़कर मेरी सहायता करना। मैं तेरी सहायता पाकर लिखता जाऊँगा, तू पढ़ता जाना। किन्तु यह काम महीने दो महीने का नहीं है, बहुत काल की अपेक्षा रखता है।"

वह बोला—"अनुमान से कितना समय लगेगा?"

मैंने कहा—पाँच, सात वर्ष से क्या कम लगेंगे। इससे अधिक भी लग सकते हैं। तब तक तुझे एक ही जगह रहकर मेरे कार्यों में दत्तचित्त होकर सहयोग देना होगा।

इसे सुनकर वह कुछ घबराया और कुछ सोच विचार कर बोला—"महाराज जी, यह बात तो कुछ असम्भव सी है।"

मैंने हँस कर कहा—"तू अभी कहता था—'असम्भव तो कुछ है ही नहीं।' तुझे इसमें आपत्ति क्या है ?"उने

उसने कुछ रुक-रुक कर कहा—"नहीं, आपत्ति, आपत्ति तो कुछ नहीं है। किंतु मुझे तो आपके साथ रह कर नित्य नूतन पुरुषों से मिलने मिलाने की, नये-नये स्थानों में जाने की, बढ़िया-बढ़िया सुन्दर-सुन्दर माल उड़ाने की, अच्छी से अच्छी मोटरों में बैठने की, सुन्दर सुगन्धित माला पहिनने की टेव पड़ गई है। इसी से मैं कुछ संशय में पड़ गया हूँ, कि इतने दिन एक जगह मेरा चित्त कैसे लगेगा ?"

मैंने कहा—"देखो, चित्त लगने का उपाय तो मैं बताता हूँ। मेरे साथ सदा सेवा पूजा में जुटे रहा करो। कथा मंडप में जो कथा होती है, उसे सुना करो। कीर्तन होता है, उसमें सम्मिलित हो गयें। मन की प्रसन्नता के लिये यहाँ इतनी लम्बी चौड़ी भूमि पड़ी है, इसमें भगवान् की पूजा के लिये सुन्दर-सुन्दर पुष्पों के पेड़ लगाओ। गुलाब है, गन्धराज है, कुन्द है, गेंदा है, तगर है, निवारी है, गुलाइची है, इनके पौधे लगाओ। बेला है, चमेली है, जुही है, मालती है, चम्पा है, इनकी लतर लगाओ, बेल चढ़ाओ। आम है, अनार है, अमरूद है, सन्तरा हैं, मौसमी हैं, जामुन हैं, कटहल हैं, कमला हैं, पपीते हैं इनके फलदार वृक्ष लगाओ। रोज देखो, आज यह पौधा इतना बड़ा हुआ, आज यह लतर इतनी बढ़ी। आज इस पर फूल आ गये। इन्हीं बातों में चित्त बहल जायगा। आशा लगी रहेगी। अबके इस पर फल आ गये, अब इस पर फूल आ जायँगे। इन मनुष्यों से बातें करने में तो यदि कोई सुन्दर हुआ, बाणी मीठी हुई, भक्त हुआ, गुणी हुआ तो उनसे राग होता है। कोई क्रोधी हुआ, हमारी बातों का खंडन करने वाला

हुआ, उद्धत हुआ, अभिमानी हुआ तो उसे देखकर द्वेष होता है। किन्तु इन वृक्षों में यह बात नहीं। प्रेम करने से ये बड़ा स्नेह करते हैं और समझने की शक्ति आ जाय, तो ये बातें भी करते हैं। किन्तु एक बात है भैया, रहना सावधान, नहीं तो कुत्ते को मारने वाले की दशा होगी।"

वह बोला—"कुत्ते को मारने वाले की दशा कैसी? महाराज जी!"

मैंने कहा—"राम जी की सभा में एक कुत्ते ने आकर भगवान् से निवेदन किया, कि अमुक व्यक्ति ने मुझे बिना अपराध के मारा है। अभियुक्त बुलाया गया। पूँछ ताँछ से पता चला, कि वास्तव में मारने वाला अपराधी है। उसने निरपराध कुत्ते को मारा है। अब भगवान् उसके लिये दंड सोचने लगे। तब वही कुत्ता बोला—'इसे मैं जो कहूँ वही दंड दीजिये। इसे अमुक मठ का मठाधीश बना दीजिये।' उसकी यह बात सुनकर सभी सभासद हँस पड़े और बोले—'यह दण्ड हुआ या पारितोषिक'?

"तब उस कुत्ते ने बताया—'प्रभो! मैं भी एक ऐसे ही मठ का मठाधीश था। उसका जो फल हुआ आप सब देख रहे हैं। इसलिए इससे बढ़ कर मैं दूसरा कोई दण्ड इसके लिए उपयुक्त समझता ही नहीं'।"

यह सुन कर वह बोला—"नहीं महाराज जी, इससे आप निश्चिन्त रहें। जहाँ यह काम हुआ, कि फिर उड़ा-उड़ी आरम्भ हुई।"

मैंने कहा—"मैं उड़ा-उड़ी करने को थोड़े ही कहता हूँ। जब तक शरीर है, पृथ्वी पर ही रहना होगा। कहीं आकाश में तो कुटिया बना ही न लोगे। प्रयागराज से बढ़ कर पवित्र तो

पाप नाशक, परम पुण्यप्रद तीर्थ और कहाँ मिलेगा ? आयु भर रहो, किन्तु रहो सचेष्ट होकर।"

वह बोला—"जैसी भगवान् की इच्छा होगी वही होगा। हाँ, तो आप वह संवाद कब सुना करेंगे, कब लिखा करेंगे ? आप पर तो समय ही नहीं। हर समय व्यस्त रहते हैं।"

मैंने कहा—"भाई देखो, यहाँ तो समय मिलने का नहीं। यहाँ तो सब समय का कार्य-क्रम बँधा है। प्रातः अरुणोदय के पूर्व जो त्रिवेणी स्नान को हम तुम चलते हैं, उसी समय नौका में आते समय और जाते समय हम लिखा करेंगे। वह समय भी सुन्दर होता है, उस समय संवाद भी सुनाई देगा। गङ्गा जी के बीच में लिखा जायगा, तो झूठ भी न होगा। जैसे कोई शपथ खाते हैं, कि हम इस बात को गङ्गा जी में खड़े होकर कहते हैं। एक बात है, जब तक तुम मेरा साथ दोगे, एकाग्र होकर मेरे साथ सुनोगे, तनिक भी चञ्चलता न करोगे, तब तक तो मैं सुन कर लिख सकता हूँ; किन्तु तुमने जहाँ गड़बड़ की, कि फिर सब गुड़ गोबर हो जायगा। तब कुछ भी लिखा न जायगा। जब तक तुम्हारी मृत्यु नहीं होती तभी तक यह है। यदि तुम मर गये या मेरा तुम्हारा कोई और रास्ता निकल आया, तो यह संवाद अधूरा ही रह जायगा। रह जाय—'स्वल्प मप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' इस मार्ग में किया हुआ थोड़ा भी कार्य बहुत से भयों से बचाने वाला होता है।"

उसने कहा—"हाँ, महाराज जी, ठीक है। मुझे सब स्वीकार है। अब पहिले आप श्रीमद्भागवत् में आई हुई, भगवान और भक्तों के सम्बन्ध की जो कथायें हैं, उन्हें विस्तार के साथ, सब विषयों को निःसंशय करते हुए, शीशे की भाँति चमकाते हुए अपनी भाषा में वर्णन करें। जब सब भागवती कथायें

हो जायँ, तब जो-जो विषय मैंने बताये हैं, उनका वर्णन करें। हाँ, तो आप जयार्थ मंगलाचरण करें—'ततो जय मुदीरयेत्'।"

इस प्रकार हमारा और हमारे शिष्य का यह समझौता हो गया है। उसी के परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थावली आरम्भ हुई है। इसका अन्त कहाँ और किस स्थल पर, कब होगा, इसे सर्वान्तर्यामी हरि ही जानें। इससे यन्त्र को क्या काम ? इसकी चिन्ता यन्त्री करेगा।

पाठक कह सकते हैं, कि महाराज ! आपने इतना लम्बा चौड़ा गुरु शिष्य संवाद तो सुना डाला, किन्तु आपने अपने एक मात्र प्रिय शिष्य का नाम तो बताया ही नहीं। दीक्षा न देने पर भी बहुत से लोग आपको अपना गुरु कहते हैं और आप कहते हैं—मेरा एक ही चेला है। वह भी आपकी बातों से मालूम पड़ता है, आपके अधीन नहीं, चञ्चल है। उसके नाम का तो पता चले। भगवान न करे आपकी बीच में ही आँखें मिच जायँ तो आपका उसे उत्तराधिकारी तो बना देंगे।

हाँ, तो उस एक मात्र शिष्य का नाम है—'मेरा मन।' यथार्थ में शिष्य करने योग्य तो यही है। जिसने इसे दीक्षा देकर वश में कर लिया, उसने जगत को वश में कर लिया। वह यथार्थ गुरु पद का अधिकारी बन गया। बिना इसको वश में किये जो गुरु बन जाते हैं, वह तो व्यवहार है। परमार्थ में उसका यदि कुछ उपयोग होगा भी तो नहीं के समान ही। यह मेरा अलबेला चञ्चल चेला अभी वश में नहीं हुआ। इसलिए मैं गुरु न कहला कर गुर ही हो सकता हूँ। व्यापारिक हिसाब जोड़ने के जो संकेत हैं वे 'गुर' कहलाते हैं। जैसे—

'एक रुपये की जितने सेर, एक आने की उतनी छटाँक' यह एक गुर है। जैसे एक रुपये की कोई चीज़ पौने दस सेर आई, तो एक आने की पौने दस छटाँक हुई। इसमें हिसाब जोड़ने की आवश्यकता नहीं। 'एक आदमी का वेतन जितने आने रोज हो उन्हें दुगुने करने पर उस संख्या को रुपये मान कर उतने ही आने घटाने से एक मास का वेतन हो जायगा।' जैसे एक आदमी आठ आने रोज पाता है, तो आठ दूनी सोलह, सोलह रुपये में से सोलह आने घटा दो। १५) एक महीने का वेतन हुआ। हिसाब फैलाने की आवश्यकता नहीं। इसे व्यापारिक गुर कहते हैं। अथवा गुरु न हो कर गुड़ ही हूँ, जैसे गुड़ ईख को दबा कर मोटा और पुष्ट बनता है, पीछे मीठा समझ कर उसे लोग उड़ा जाते हैं।

या गुरु न होकर गोरू ही हूँ। बँगला में गुरु का गोरू की भाँति उच्चारण होता है। गोरू कहते हैं गाय भैंस को। जब तक गाय भैंस दूध दे तब तक अच्छी, जहाँ दूध न दिया फिर कौन पूछता है? पानी भी कोई समय पर नहीं पिलाता।

अथवा गुरु न होकर गरू हूँ। मारवाड़ी भाषा में गुरु का उच्चारण गरू होता है। गरू कहते हैं भारी को। नौका में पार होने की आशा से बहुत से लोग बैठ तो जाते हैं, किन्तु जहाँ नौका गरू हुई, कि स्वयं तो डूबती ही है, अपने साथ उन बैठे हुओं को भी डुबा देती है।

इसीलिए मैं इस अपने अनजान चेले को नित्य शिक्षा देता हूँ—'देख भैया, तेरे ही ऊपर मेरा गुरुत्व निर्भर है। यदि तू ठीक ठिकाने पर आ गया, तब तो ठीक ही है। तेरा भी उद्धार

मेरा भी उद्धार है। यदि तू लोभ में फँस गया और अपने अधीन करके मुझे विषयों के लालच में घसीट ले गया, तब तो नरक का रास्ता खुला ही हुआ है। कहावत है—

"लोभी गुरू लालची चेला, होय नरक में ठेलम ठेला।"

यही मेरी आत्म कथा है। यही इस भागवती कथा के लिखने का कारण है। मैं अपने चेले के इस कार्य की प्रशंसा ही करता हूँ। किसी न किसी प्रकार से भागवत चिंतन स्मरण का अवसर तो दिया। अब पाठक, इस गुरु शिष्य संवाद को यहीं समाप्त करके आगे शुक-शौनक संवाद श्रवण करें।

छप्पय

सुरसरि उत्तर ओर त्रिवैंणी पार मनोहर।
प्रतिष्ठानपुर यज्ञ-तीर्थ भूसी अति सुन्दर॥
मनीराम मम शिष्य चपल चंचल अज्ञानी।
ताही के प्रति सुधा सरिस रस-कथा बखानी॥

दैहिक दैविक मानसिक, चाहिँ होहि भव की व्यथा।
सब रोगनि की एक ई, औषधि "भागवती कथा॥"

जयार्थ

(२)

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जय मुदीरयेत ॥१

(श्री भा० १ स्क० २ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

श्री नारायण विमल विशाला पुरी निवासी ।
नर नारायण ऋषी तपस्वी अज अविनासी ॥
माता वीणापाणि सरसुती वाणी देवी ।
कियो वेद को व्यास शक्ति-सुत हिमगिरि सेवी ॥

धरि सिर सब के पाद की, पावन पुण्य पराग अति ।
भनूँ भागवत भव्य भव—भयहर भाषा यथा मति ॥

जो आदि अन्त से रहित श्रीमन्नारायण हैं, जो भू-वैकुण्ठ श्री विशालापुरी में सदा निवास करते हैं, जो चराचर जगत् के स्वामी हैं, जिनके स्वास प्रश्वास से प्रति क्षण असंख्यों ब्रह्माण्डों की स्वतः ही रचना होती रहती है। उन सर्वाधार, लक्ष्मीकान्त, अनन्त ब्रह्माण्ड नायक, श्रीमन्नारायण भगवान् के पाद पद्मों में कोटि-कोटि प्रणाम है।

---

१ श्री नारायण, नर, नरोत्तम तथा सरस्वती देवी को नमस्कार करके, फिर जय भागवतादि ग्रन्थों को कहना चाहिये।

जिन्होंने दक्ष की पुत्री, धर्म की पत्नी जगन्माता मूर्ति देवी के गर्भ से अवतार लिया है। जो जन्म से ही त्यागी, विरागी तपस्वी हैं। जिन्होंने नैमिषारण्य पुष्कर क्षेत्र आदि पावन तीर्थों को अपनी स्थिति से--तपस्या करके--परम पावन क्षेत्र बना दिया है। शतक्रतु देवराज इन्द्र की भेजी हुई असंख्यों अप्सराओं तथा मन्मथ, वसंत, समीर आदि को जिन्होंने अपनी तपस्या में विघ्न करते हुए देख कर भी क्रोध नहीं किया। काम के साथ-साथ जिन्होंने क्रोध पर भी विजय प्राप्त कर ली है। जिन्होंने अपनी ऊरू से उर्वशी जैसी असंख्यों अप्सराओं को उत्पन्न करके स्वर्ग के देवताओं को विस्मित बना दिया है। जो तपस्या में निरंतर निरत रहते हैं, उन तपस्या की जाज्वल्यमान प्रत्यक्ष मूर्ति, नर नारायण दोनों भाइयों को मैं नत मस्तक होकर नमस्कार करता हूँ।

जिनके बिना विश्व में वर्णों का विभाग नहीं, अस्तित्व नहीं, जो सम्पूर्ण ज्ञान की प्रदातृ हैं, जिनकी वीणा की झंकार से ही सप्तस्वरों सहित सम्पूर्ण संगीत की उत्पत्ति हुई है, जिनके जगज्जननी, कुमारी आदि अनेक रूप हैं--उन भगवती सरस्वती देवी के चरणों में नम्र होकर मैं श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

जो भगवती सत्यवती में भगवान् पराशर के वीर्य से उत्पन्न हुए हैं। जिन्होंने एक वेद के चार विभाग करके संसार के कल्याणार्थ उन्हें सरल, सुगम बना दिया है। जिन्होंने स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धु—जो वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं हैं--उन---पर कृपा करके पञ्चम वेद—महाभारत—की रचना की है, जो भरतवंश की रक्षा करने वाले और उसे उच्छेद से बचाने वाले

हैं। जिन्होंने वेदों के सम्पूर्ण अर्थों को पुराणों के द्वारा कथन किया है, जिससे सर्व साधारण पुरुष उस दुष्कर ज्ञान को सुगमता के साथ समझ सकें। जिन्होंने विविध धर्मों का संक्षेप और विस्तार के साथ वर्णन किया है। जो धर्म के रक्षक और प्रतिपालक हैं। जिन्होंने ब्रह्म सूत्रों की व्याख्या करके उपनिषद् के वेदान्त वाक्यों की—जो परस्पर में विभिन्न से प्रतीत होते थे—एक वाक्यता की है। जिन्होंने समस्त ज्ञान को उच्छिष्ट कर दिया है। सभी लोग उसी उच्छिष्ट ज्ञान का भाँति-भाँति से अपनी-अपनी भाषा में कथन करते हैं। जो साक्षात् श्री हरि का अवतार हैं। जो एक मुख के प्रजापति और दो बाहु वाले विष्णु तथा द्विनेत्र वाले महेश हैं। जिन्होंने मानसिक खेद के व्याज से देवर्षि भागवन् नारद से भागवत ज्ञान प्राप्त किया है। जिन्होंने कलिकाल के अल्प मति, अल्पायु पुरुषों को अज्ञान सागर में डूबते देख कर श्रीमद्भागवत रूपी दृढ़ नौका बना कर, स्वयं ही कर्णधार बन कर, उनके उद्धार के लिये प्रयत्न किया है। जिन्होंने सम्पूर्ण ज्ञान को सदाचारी ऋषियों में विभक्त करके लोप होने से उसकी रक्षा की है। श्रीमद्भागवत रूपी त्रैलोक्य पावन महान् स्वादु रस को बिना भेद भाव के वितरण करने के लिये अपने परम ज्ञानी, परम विरक्त सुत शुकदेव को उत्पन्न किया है। उत्पन्न होते ही जो संसार त्याग कर बन में चले गये थे, उन्हें बड़े कौशल से बुला कर जिन्होंने अधिकारी समझ कर उन्हें ही भागवतामृत वितरण करने के लिये नियुक्त किया है। जो ऋषियों में परम सम्माननीय हैं। जिनका ज्ञान सदा अकुंठित है। जो त्रिवर्ग साधन तथा मुक्ति साधन, सभी में समान रूप से निष्णात हैं। जिनकी दृढ़ नौका के सहारे अनेकों

भूले भटके डूबते हुए जीव संसार सागर से सदा के लिये पार हो गये हैं, उन लोक पितामह ब्रह्मा जी के प्रप्रपौत्र, वशिष्ठजी के प्रपौत्र, पराशर जी के पौत्र, शक्ति के पुत्र भगवान व्यास देव के चरणों में हमारा श्रद्धाभक्ति सहित प्रणाम है। हे ज्ञान के निधि ! हे जगदुद्धारक ! हे परम गुरुदेव ! हे विश्व वन्द्य ! इस क्षुद्र जीव पर कृपा करो। आप के परम पावन पद चिह्नों का अनुसरण करते हुए, मैं इस भाषा भागवत-तत्व को अपने जैसे विद्या बुद्धि हीन पुरुषों के सम्मुख रख सकूँ। मुझ में विद्या बुद्धि नहीं, मुझे अपने विद्यावल का भरोसा नहीं। मैं समस्त साधनों से हीन हूँ, मति मलीन हूँ, दीनाति दीन हूँ। किन्तु एक मात्र आपकी अहैतुकी कृपा का ही भरोसा करके संत महात्माओं के मनोगत भाव जान कर उनकी आंतरिक आज्ञा पाकर ही इस दुरूह कार्य में प्रवृत्त हुआ हूँ। हे अशरण शरण ! मेरे मस्तक पर अपना वरद हस्त रख दीजिये। मेरे मन में बैठ कर प्रेरणा कीजिये। मेरा हाथ पकड़ कर लिखाइये और अपना गूढ़ तत्व सर्व साधारण लोगों के सम्मुख भाषा गद्य में प्रकट कराइये। इसमें मेरी चातुरी नहीं। आपका ही कार्य्य है। आप ही ज्ञान के स्रोत हैं। आप ही की इस पद पर प्रतिष्ठा है। मैं तो तुम्हारा आज्ञाकारी क्रीत दास हूँ। तुम्हारे भावों का प्रकाशक हूँ, तुम्हारा निर्जीव यन्त्र हूँ, तुम्हारी बाँसुरी हूँ, जैसी फूँक भर दोगे वैसा ही स्वर निकल आवेगा। हे विश्व को अपने सुमधुर सङ्गीत से मोहन करने वाले देव ! मेरा पुनः प्रणाम स्वीकारिये।

हे व्यास नन्दन ! तुम्हारी कृपा के बिना कोई भागवत-तत्व नहीं समझ सकता है। हे गुरो ! आपकी किन शब्दों में स्तुति करूँ।

भाव नहीं, भाषा नहीं। आपका अवतार हम जैसे जग जाल में जकड़े जीवों की रक्षा के लिये ही हुआ है। आप तो जन्म से ही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हैं। आप श्रीजी के कर कमल पर क्रीड़ा करने वाले, क्रीड़ा कीर हैं। आपने उस मधुराति मधुर रस का स्वयं अनुभव किया है और उसी को व्यास मुख से सुन कर सम्पूर्ण संसार में फैलाया है। इस दिव्याति दिव्य मधुर रस के सच्चे अधिकारी तो आप ही हैं, क्योंकि जिस हृदय में काम वासनायें हैं, उसमें श्याम वास ना है। आपका तो काम से परिचय भी नहीं। आपकी आत्मा को तो काले भूत ने ग्रहण कर रखा है। आप तो उसी भूतावेश में इतस्ततः भ्रमण करते हुए आधिव्याधियों की अग्नि में पचते हुए प्राणियों को परम शीतलता प्रदान करते फिरते हैं। आप कहीं अधिक ठहरते भी नहीं। आपको अवकाश भी नहीं; क्योंकि इस अनादि जगत् में अनंत अधिकारी हैं, उन सब की आपको खोज खबर रखनी है। सब का उद्धार करना है। किन्तु कृष्णकथा में तो आप सब कुछ भूल जाते हैं। परिव्राजक व्रत का परित्याग करके, एक स्थान पर कुछ काल को बस भी जाते हैं। हे मेरे गुरुदेव! आचार्य्यप्रवर! आओ, कुछ काल मेरे कलुषित काले हृदय में, काली लोह की लेखनी में भी वास करो। ऐसे अपवित्र स्थान में वास करने के लिये मैं इसी लिये प्रार्थना कर कर रहा हूँ, कि इनके द्वारा कृष्णकथा का यत्किंचित असम्बद्ध गान होगा। कैसी भी हो, कृष्णकथा तो कृष्ण कथा ही है। किसी के द्वारा गाई जाय, उसके स्वरूप में विकृति नहीं होती। काक की विष्ठा में रहने पर भी अश्वत्थ का बीज अश्वत्थ को ही उत्पन्न करता है। और वह वासुदेव स्वरूप सब का पूज-

नीय होता है। अतः आओ, मुझे सिखाओ, बताओ और लिखवाओ। तुम्हारी वाणी से ही बोलूँगा, तुम्हारी शक्ति से ही लिखूँगा और जय-जय बोल कर, तुम्हारे पाद पद्मों में प्रणत होकर इस 'भागवती कथा' का आरम्भ करूँगा।

छप्पय

व्यास-तनय वाशिष्ठ विज्ञ वैराग्यवान अति।
कृष्ण नाम मधु-मधुर मधुप मदमत्त महामति॥
भक्ति भागवत भनी पार-भव सिन्धु कियो है।
कलि कल्मष करि दूरि दिव्य आलोक दियो है॥

परमहंस शुक देव वर, सुन्दर सुख कर नाम है।
तिनके पद पाथोज में, श्रद्धा सहित प्रनाम है॥

———

नैमिषारण्य

(३)

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥१

(श्री भा० १ स्क० १ अ० ४ श्लोक)

छप्पय

नैमिषार सुखसार हार भू को है भारी ।
सहस अठासी शौनकादि ऋषि जहँ व्रतधारी ॥
सहस साल को सत्र रच्यो सुनि सूतहु आये ।
सब इतिहास पुरान अठारह गाइ सुनाये ॥

किन्तु भागवत मधुर अति, सब शास्त्रनि को सार है ।
पढ़त सुनत गावत गुनत, होत जगत्-उद्धार है ॥

भृगुवंश में एक परम तेजस्वी गृत्समद नामक ऋषि हुए—उनके पुत्र शुनक हुए। महर्षि शुनक के पुत्र ही महा तेजस्वी, नियम व्रत परायण, ऋषियों के अग्रणी, ऋषि श्रेष्ठ शौनक मुनि हुए। ये जन्म से ही त्यागी विरागी, तथा संसारी भोगों

---

१ एक समय वैष्णव क्षेत्र नैमिषारण्य में शौनकादि मुनियों ने स्वर्गादिलोकों की प्राप्ति के लिये हजार वर्ष में समाप्त होने वाले यज्ञ को आरंभ किया ।

से ही उदासीन थे। जब ये कुछ बड़े हुए, तो पिता ने इनके विधिवत् उपनयन और वेदारम्भादि संस्कार कराये। वेदाध्ययन के अनन्तर जब समावर्तन संस्कार का समय आया, तो इन्होंने समावर्तन कराना अस्वीकार कर दिया। संसार में तपस्या ही सार है, ये संसारी सुख भोग तो क्षणिक सुख देने वाले नश्वर और बन्धन का हेतु हैं, ऐसा निश्चय करके तथा अपने पिता की आज्ञा लेकर ये तपस्या के लिये निकल पड़े।

इनके निश्चय को सुनकर और भी बहुत से ऋषिकुमार इनके साथ हो लिये। कहीं परम पावन पुण्य भूमि में कुटी बनाकर सभी सुख से यज्ञ यागादि करते हुए कृष्ण कथा श्रवण करेंगे। इस बात से सभी का हृदय प्रफुल्लित था, सभी ने संसारी सुखों की ओर से मुख मोड़ लिया था। तपको ही परमधन समझने वाले वे ऊर्ध्वरेता ऋषिकुमार किसी पुण्य भूमि की खोज में पृथ्वी के तीर्थों में भ्रमण करने लगे।

बड़े-बड़े प्राचीन वृद्ध ऋषि मुनियों से उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की प्रशंसा सुनी। इस महान् तीर्थ की प्रशंसा सुन कर वे तीर्थराज को मन ही मन प्रणाम करते हुए, वहाँ के लिए चले। प्रयाग में पहुँच कर उन्होंने श्री गंगा, यमुना के सितासित जल के सुन्दर संगम के दर्शनों से उन सब के मन अत्यन्त ही प्रफुल्लित हुए। गंगा यमुना के मध्य की रजतचूर्ण के समान चमकीली बालुका को देखकर उनका हृदय उछलने लगा। ऐसे मनोरम स्थान के दर्शनों से ही उन सब के शरीर रोमांचित हो उठे। प्रेम के अश्रु बहाते हुए उन्होंने तीर्थराज प्रयाग की, त्रिवेणी मैया की स्तुति की। स्नान, सन्ध्या, वन्दन, देवर्षि पितृ तर्पण तथा समस्त आन्हिक कृत्य करके उन्होंने प्रयागराज के मुख्य-मुख्य

तीर्थों के दर्शन किये। भगवान् भरद्वाज जी के आश्रम में गये। महर्षि की वन्दना करके उन सब ने उनकी पूजा की। ऋषि ने भी इन सब ऋषिकुमारों का यथोचित आदर सत्कार किया, रहने को पर्ण कुटियाँ बताईं और भोजन के लिये विविध प्रकार के स्वादिष्ट मीठे मूल-फल दिये।

जब वे सब सुख से अपनी थकान मिटा कर, कंद मूल फल खाकर स्वस्थ हुए, तब ऋषि ने पूछा—"कुमारो! तुम्हारा कल्याण हो, आज तुम सब मेरे आश्रम में आये, यह बड़े ही हर्ष की बात है। तुम्हारे पिता आदि जब-जब प्रयाग आते हैं, तब यहीं ठहरते हैं। वे सब मुझसे बड़ा स्नेह रखते हैं। तुम सब मेरे पुत्र के समान हो। आज मैं तुम्हें देखकर अत्यंत ही प्रसन्न हुआ। तुम सब यहाँ तीर्थ-यात्रा के ही उद्देश्य से आये हो या तुम्हारे मन में और भी कुछ वांच्छा है। मुझसे संकोच मत करो। जो बात यथार्थ हो वह मुझ से कहो।"

महर्षि के ऐसे स्नेह से सने हुए, अत्यंत मधुर, अपने पन से भरे हुए वचनों को सुनकर ऋषिकुमारों का हृदय पितृ स्नेह से भर गया। उन्होंने प्रेमाश्रु बहाते हुए ऋषि के चरणों को भिगो दिया। कस कर ऋषि के चरणों को पकड़ कर उन्होंने उनको गाढ़े रंग के रक्त कमल के समान बना दिया। क्रम से ऋषि ने सभी को फिर आलिंगन किया। तब उनमें से शौनक जी बोले—"आज हम सब कृतार्थ हुए। भगवान् के वात्सल्य स्नेह को प्राप्त करके हम आज सब परम अनुग्रहीत हुए। मेरे पिता जब भी प्रयाग का प्रसंग चलता—भगवान की चर्चा बड़े ही गद्‌गद् कंठ से करते थे। वे भगवान् के गुणों का गान करते-करते अघाते नहीं थे। तभी से मेरे मन में बड़ी लालसा थी कब भगवान्

के समीप रह कर, उनके चरणों की आराधना करूँगा। कभी कभी हम सोचते थे—"भगवान् तो महान् हैं, वे दूसरे प्रजापति ही हैं। उनके आश्रम में हजारों लाखों ऋषि, महर्षि, यक्ष, किन्नर, देवता निवास करते हैं। हम बालकों से पता नहीं वे मिलेंगे भी या नहीं। किन्तु हमारी यह शंका यहाँ आकर निर्मूल हुई। भगवान ने आते ही हमें वात्सल्य स्नेह से स्नान करा दिया। प्रेम के सागर में निमग्न कर दिया। आज हमने यथार्थ पितृ स्नेह प्राप्त किया। हम सब भगवान् के चरणों में एक विशेष प्रार्थना करने के लिये ही उपस्थित हुए हैं।"

भगवान् भरद्वाज ने शौनक जी को और समीप बिठा लिया। अपने हाथ से शनैः शनैः उनकी जटाओं को सुलझाते हुए बोले—"हाँ, तुम अपना अभिप्राय मुझसे बिना संकोच के कहो। तुम तो अपने बच्चे ही हो।"

शौनक जी ने कुछ रुक-रुक कर धीरे-धीरे कहना प्रारम्भ किया—"भगवान् सर्वज्ञ हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता हैं, सब के मन की बात जानने वाले हैं। फिर भगवान् के सम्मुख कुछ कहना धृष्टता मात्र है, किन्तु भगवान् की आज्ञा ही है, तो हम कहते हैं। हमें संसारी व्यवहार में फँसने की रुचि नहीं। हम अपने सम्पूर्ण जीवन को तप करते हुए श्री कृष्ण कथा में ही व्यतीत करना चाहते हैं। इसके लिए कोई पुण्य स्थली हमें बतावें। भगवान् जहाँ आज्ञा करेंगे, वहीं हम सदा यज्ञ याग करते हुए भगवत-कथा-कीर्तन के द्वारा आयु के शेष समय को बिता देंगे। इन सब ऋषियों का भी यही विचार है।" भगवान् भरद्वाज ने अत्यन्त ही प्रसन्नता के साथ उनसे कहना आरम्भ किया—"भैया, तुम लोग धन्य हो।

इस चढ़ती अवस्था में तुम्हारी ऐसी विमल बुद्धि हुई है। तपस्या में, भगवत् कथा-कीर्तन में रुचि करोड़ों जन्मों के पुण्यों

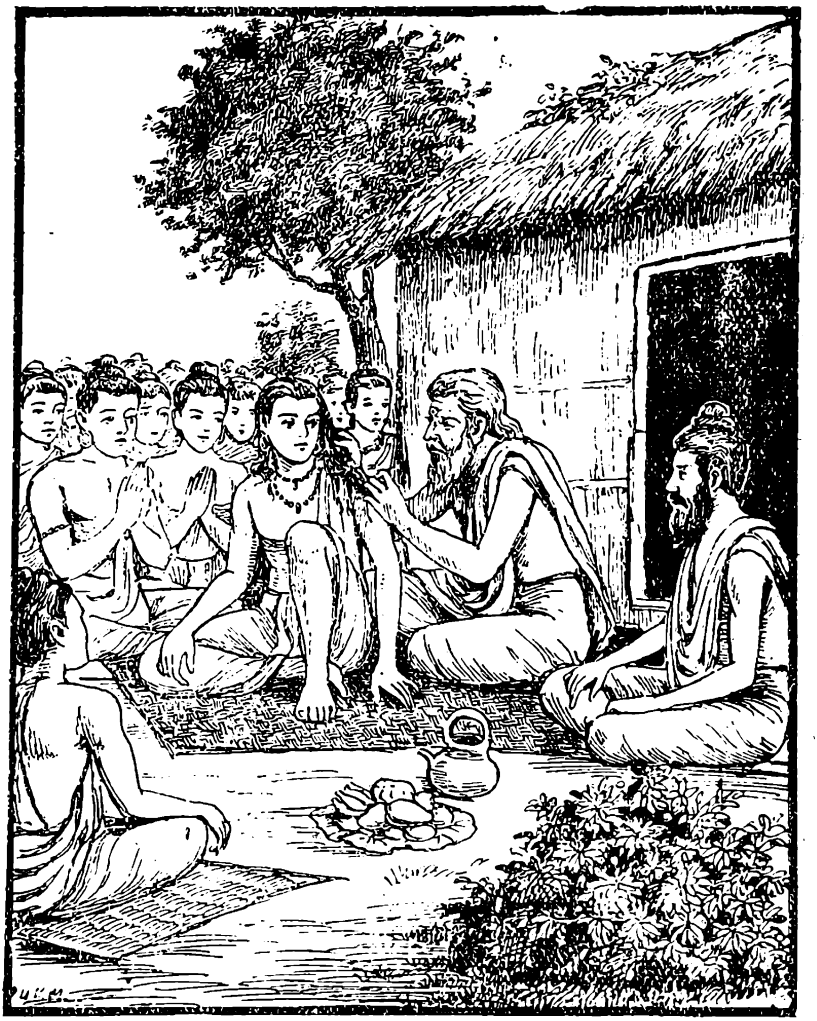

से होती है। साधारण जीव तो इसी संसार में मरते और जन्म लेते रहते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंगों की तरह आहार,

निद्रा, भय तथा मैथुनादि में ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बनी रहती है। जो अनुग्रह सृष्टि के जीव होते हैं, जिन्होंने करोड़ों जन्म यज्ञ, याग, तीर्थ, व्रत, जप, तप, ध्यान, समाधि आदि शुभ साधन किये हैं, उनका ही मन नियम पूर्वक कथा-कीर्तन में लगता है। प्रयाग से बढ़ कर संसार में पुण्य प्रदेश दूसरा कौन होगा। इस आश्रम को तुम अपना ही समझो, समझो क्या तुम्हारा है ही। यहीं आनन्द से रहो। यज्ञ, जप, तप जो भी करना चाहो करो। यहाँ यथेष्ट फल वाले वृक्ष हैं। अमृतोपम श्री त्रिपथ गामिनी सुरसरि का सुमधुर विपुल सलिल है। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, राजर्षि देवर्षि, महर्षि, आदि का निवास स्थान है। इससे पवित्र भूमि तुम्हें और कहाँ मिलेगी। यहीं आनन्द पूर्वक निवास करो। फिर सबको लक्ष्य करके उन्होंने कहा—"क्यों भाई, ठीक है न?"

सबने हाथ जोड़े हुए कहा—"भगवान् के वचन यथार्थ हैं। प्रयाग से बढ़ कर न कोई तीर्थ है, न गंगा जी से बढ़ कर कोई नदी है, गंगा यमुना के मध्य की भूमि से बढ़ कर न कोई भूमि है और भगवान् भरद्वाज के आश्रम से बढ़ कर न कोई और पवित्रतम आश्रम ही है। हम भगवान की आज्ञा शिरोधार्य्य करके यहीं निवास करेंगे।"

समस्त ऋषिकुमारों की बात सुन कर शौनक जी बड़ी ही नम्रता के साथ हाथ जोड़े हुए, मुनि से कहने लगे—"भगवान् की आज्ञा ही हमारे लिये यथेष्ट थी। तिस पर भी इन सब ऋषि कुमारों की भी इच्छा है, फिर इससे बढ़ कर और चाहिये ही क्या? हम सब यहीं रह कर भगवान् के चरणों की उपासना करेंगे और भगवान् की छत्र छाया में रह कर सुखपूर्वक

भगवान् की आज्ञा तथा उपदेशों के अनुसार अपने जीवन को बितावेंगे।"

इसके अनंतर सभी भगवान् भरद्वाज के चरणों की वन्दना करके ऋषि के बताये हुए स्थान में अपनी-अपनी अलग-अलग पर्णकुटी बना कर निवास करने लगे। कई महीनों तक वे श्री भरद्वाज आश्रम में रह कर ही घोर तप करते रहे। थोड़े दिन के अनंतर ही माघ का महीना आया। सूर्यदेव मकर राशि पर स्थित हुए। माघ मकर में तीर्थराज प्रयाग में स्नान का अनंत फल है। जिस समय की यह बात है उस समय धर्म का इतना ह्रास नहीं हुआ था। कलियुग आ तो गया था; किन्तु उसके पैर जमे नहीं थे। लोगों में धर्म की भावना भली-भाँति विद्यमान थी। सहस्रों राजे-महाराजे अपने सेवक-सेनाओं के सहित सैकड़ों कोस से आकर गंगा-यमुना की भूमि में मकर भर कल्पवास करते थे। तब तक ऋषियों ने इस भूमिका परित्याग नहीं किया था। वे स्थूल शरीर से अवनि पर विद्यमान थे। माघ मकर में वे सब एकत्रित होते। हजारों लाखों गाड़ियों में ऋषि-मुनियों के यज्ञ की अग्नियाँ और सामग्रियाँ आतीं। प्रयाग के बीसों कोस की तीनों किनारों की भूमि भर जाती। भगवान् भरद्वाज के अश्रम में तिल रखने को भी जगह न रहती। कमल के कोष में जैसे एक के पश्चात् दूसरी छोटी-बड़ी कलियाँ सटी रहती हैं, ऐसे ही महर्षि का आश्रम ऋषि, मुनि, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किंपुरुष तथा मनुष्यों से भर जाता। उसमें सदा वेदध्वनि होती रहती, सैकड़ों हजारों नर-नारी राजा, राजपुत्र महर्षि के दर्शनों के लिए आते-जाते रहते। महर्षि अपनी योग शक्ति से सभी का श्रद्धा सहित यथोचित-सत्कार करते। सभी की कुशल पूछते। इतने पर भी आश्रम में सर्वदा

शान्ति विराजती रहती। किन्तु शौनक जी बाहिरी भीड़-भाड़ से घबड़ाते थे। वे इतने जन-समूह को देख कर व्यथित होते थे। उनका मन शान्त एकान्त चाहता था। अकेले। होते तो कहीं भी एकान्त स्थान में पड़ रहते; किन्तु उनके साथ सैकड़ों और भी ऋषि-मुनि थे। वे सोचने लगे—"तीर्थराज तो महान् क्षोत्र है। इसमें चारों दिशाओं से सदा मनुष्य आते-जाते ही रहेंगे। हमें तो कोई ऐसा स्थान चाहिये जो पवित्र तो अत्यंत हो, किन्तु इतना विशाल और महान् न हो। उसकी प्रसिद्धि भी इतनी न हो, वहाँ बैठ कर ही हम अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हैं। यह सोच कर वे ऋषि के समीप अपने साथियों सहित गये। उनकी चरण वंदना करके वे एक ओर चुपचाप बैठ गये। महर्षि के समीप बहुत से नवागत ऋषि, मुनि, तपस्वी, राजा राज-कुमार बैठे थे। उन सब से घिरे हुए महर्षि ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे देवताओं से घिरे हुए देवगुरु बृहस्पति हों। महर्षि ने सबसे कुशल पूछी, सभी का यथोचित स्वागत-सत्कार करके वे मुनि शौनकजी से बोले, "शौनक, तुम सब ऋषियों के अग्रणी हो। तुम्हारी आकृति से मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम कुछ कहना चाहते हो। तुम्हें जो कहना हो कहो। अब यहाँ ऐसा कोई नहीं; जिसके सामने तुम अपनी गुप्त से गुप्त बात भी न कह सको।"

हाथ जोड़े हुए शौनकजी ने कहा—"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। भगवान् की चरण वंदना के ही निमित्त हम सब चले आये। इस अनंतसागर के समान भीड़ को देख कर हम चकित हो रहे हैं और इससे भी अधिक आश्चर्य में हमें भगवान् का गाम्भीर्य तथा साहस डाल रहा है। इतने लोगों के आने-जाने से भी भगवान् के हृदय में कोई क्षोभ नहीं, कोई उद्वेग नहीं।

सुमेरु के समान भगवान् का धैर्य अचल है। उसमें एक भी लहर नहीं उठती।"

शौनकजी की बात सुन कर भगवान् भरद्वाज बड़े जोर से हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"मालूम होता है, तुम इस भीड़-भाड़ से घबड़ा गये। यह महीने दो महीने ही ऐसी भीड़ रहती है। फिर तो लोग मकर बीतने पर अपने-अपने स्थानों को चले जाते हैं। क्यों? तुम्हें यह भीड़-भाड़ अच्छी नहीं लगती क्या?"

शौनकजी ने संकोच के स्वर में कहा—"अच्छी क्यों नहीं लगती? धर्मात्मा लोगों के दर्शन होना ही बड़े भाग्य की बात है; किन्तु इस भीड़-भाड़ में हम जैसा चाहते हैं वैसा साधन होने नहीं पाता। यह स्थान तो या तो आप जैसे सिद्धों के उपयुक्त है या जो अकेले या १०।५ हों, उनके लिये अथवा जो कुछ ही समय वास करना चाहें उनको ठीक है। मैं तो एक ऐसा स्थान चाहता हूँ, जो बहुत प्रसिद्ध तो हो नहीं; परन्तु परम पावन हो, एकान्त हो, साधन में सहायक हो, आवश्यक सामग्रियों से भरा पूरा हो। आगे फिर जैसी भगवान् की आज्ञा हो।"

भगवान् भरद्वाज ने थोड़ी देर ध्यान करने के अनन्तर कहा—"शौनक! तुम्हारा संकल्प सुन्दर है। तुम दीर्घ सत्र के लिए शान्त, एकान्त, रमणीय, निरापद, कंद मूल फलों से परिपूर्ण निरुपाधिक, परम-पवित्र, यज्ञीय स्थान चाहते हो। मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। तुम एक काम करो। यहाँ भगवान् माधव १२ रूप बना कर वास करते हैं। तुम त्रिवेणी तट पर जाकर उनका ध्यान करो। वे ही तुम्हें स्वयं प्रकट होकर हित का उपदेश करेंगे तथा उपयुक्त पावन स्थान भी बता देंगे।"

'जो आज्ञा!' कह कर समस्त ऋषियों के सहित शौनकजी ने महर्षि की चरण वन्दना की और उनकी आज्ञा लेकर अपने साथियों सहित संगम के समीप जाकर, सावधानी और संयम के साथ भगवान् माधव की आराधना करने लगे। थोड़े ही काल में भक्त भयहारी, वांछाकल्पतरु, घट-घट व्यापी, भगवान् माधव शंख चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधों सहित शौनकादि ऋषियों

सम्मुख प्रकट हुए। नवजलधर के समान, अलसी के पुष्प के समान, नील कमल के समान आभा वाले उन चतुर्भुज माधव के दर्शन करके सभी के मुख कमल खिल गये। वे प्यासे पुरुष के समान भगवान् की अनिर्वचनीय रूप-माधुरी का एकटक भाव से पान करने लगे। उनके नेत्र भगवान् की मनमोहिनी, त्रैलोक्य सुन्दरी, चित्त को हरनेवाली, माधुरी मूर्ति

के दर्शनों से तृप्त ही नहीं होते थे। उन्होंने विधिवत् भगवान् की पूजा की और दिव्य स्तोत्रों से स्तुति की। उनकी पूजा और प्रार्थना से प्रसन्न होकर प्रणतपाल प्रभु बोले—"ऋषियो! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम जो भी चाहो अपना अभीष्ट वर मुझसे माँग लो!"

हाथ जोड़े हुए महर्षि शौनकजी ने सब की ओर से निवेदन किया—"हे माधव! जब साक्षात् आप ही हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो गये, तब हमें फिर अन्य वांछा ही क्या रही। समस्त साधन आपके दर्शन होने के लिए ही किये जाते हैं। आपके देव दुर्लभ दर्शनों से दैहिक, दैविक आदि समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। जीव सहज में ही आपके दर्शनों से आवागमन के चक्र से छूट कर मुक्त हो जाता है। फिर भी हम जीवन यापन के लिये, शेष आयु को आपकी ही आराधना में बिता सकें, ऐसा कोई परमपावन शान्त एकान्त मनोरम स्थान सत्र के लिये हमें बतावें, जहाँ बैठ कर ये सभी ऊर्ध्वरेता ऋषि शान्ति के साथ तपस्या आराधना कर सकें।"

शौनक मुनिके ऐसे विनय युक्त वचन सुनकर वरदानियों में श्रेष्ठ श्रीहरि बोले—"ऋषियो! मेरा यह अत्यंत जाज्वल्य-मान कोटि सूर्य सम प्रकाशवाला चक्र आपके आगे-आगे चलेगा। जिस स्थान में जाकर इसकी 'नेमि' गिर जाय, उसी स्थान को आप परम पवित्र समझकर, सहस्रवर्षों वाला सत्र आरंभ करदें।" इतना कहते-कहते भगवान् तुरंत ही वहा के वहीं अन्तर्धान हो गये।

क्षण भर में यह बात समस्त प्रयाग क्षेत्र में फैल गई। ऋषियों के झुंड के झुंड महर्षि शौनक के समीप आ-आकर

आग्रह करने लगे—"हम भी आपके साथ चलेंगे। हम भी आपके सत्र में दीक्षा लेंगे।" इस प्रकार हजारों ऋषियों ने आकर शौनक जी को घेर लिया। महर्षि शौनक ने सभी से बड़ी विनीत वाणी में कहा—"ऋषियो! जिन्हें संसारी भोगों की इच्छा न हो, जो जीवन पर्यन्त ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी रह कर विधिवत् ब्रह्मचर्य और नियमों का पालन करें, वे ही हमारे साथ चलें। गृहस्थी ऋषि मुनि वहां कृपा कर जाने का विचार न करें।'

महर्षि शौनक के ये वचन सुनकर सभी ने कहा—"हम जीवन भर नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहेंगे। और भी जो आप आज्ञा देंगे उसका पालन करेंगे। आप हमारा त्याग न करें। हमें अवश्य-अवश्य साथ ले लें।'

जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करता, उसे ही ऋषि रखते। इस प्रकार होते-होते वे सब ८८ हजार हो गये। भगवान् का धर्म चक्र चला और उसके पीछे-पीछे वे ८८ हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि चले। गंगाजी को पार करके वह चक्र लक्ष्मणपुर सीतापुर होता हुआ पुण्यतोया भगवती गौमती के तट पर एक घोर अरण्य में जाकर रुक गया। धर्मचक्र की नेमि जहाँ व्यशीर्य हुई, उस अरण्य का नाम ऋषियों ने 'नैमिषारण्य' रख दिया। भगवान् की ऐसी ही आज्ञा थी। उसी स्थान को यज्ञ के लिये परम पावन स्थली समझ कर मुनियों ने वहाँ दीर्घ सत्र करने का निश्चय किया। ऊँची नीची पृथ्वी को समान किया गया। ऋषियों ने पुण्य तोया गौमती के तट पर एक ऊँची समतल भूमि में शास्त्रीय विधि से वेदी बनाई। समीप के ही विशालवट के नीचे कथावार्ता के लिये चतुष्कोण सुंदर चबूतरा बना। वेदी के तीनों ओर ऋषियों ने अपनी-अपनी सुंदर पर्णकुटियाँ बनाईं। दक्षिण की ओर नदी बह रही थी। थोड़े ही समय में

वह स्थान ब्राह्मी श्री से शोभित होने लगा। उस स्थान की शोभा निरख कर शौनकादि सभी ऋषि मुनि परम प्रसन्न हुए। महर्षि शौनक सब के प्रधान कुलपति माने गये। उन्होंने शास्त्रीय विधि से सहस्र वर्ष में समाप्त होने वाले महायज्ञ की दीक्षा ली। सिद्ध, चारण, गन्धर्व, देवता, यक्ष, राक्षस सभी उस महा यज्ञ को देखने आये। उस स्थल में पहिले १२ वर्ष में समाप्त होने वाला यज्ञ आरम्भ किया, फिर अन्यान्य यज्ञों का भी निर्णय हुआ। इस प्रकार "नैमिषारण्य" समस्त कथा वर्ता इति हास पुराणों की संसार में प्रसार करने वाली पावन भूमि बन गई। चीर, वल्कल, मृग चर्म, दंड, कमण्डलु, समिधा, मेखला, कुश, ब्रह्मदण्ड आदि ऋषियों के सामान इधर इधर बड़े ही भले मालूम पड़ते थे। यज्ञीय सामग्रियों से वह स्थान व्याप्त हो गया।

छप्पय

कहीं परे कुश कहीं कमण्डलु जल के सोहें।
मत्त मृगनि के झुंड मुनिन के मन कूँ मोहें॥
समिधा, वल्कल, चीर, मूल, फल, फूल सुहावें।
भई भीर सुर, असुर, नाग, किन्नर, नर आवें॥

यज्ञ भूमि पावन परम, सब विधि सुखद शरण्य है।
शौनकादि सुख तें वसहिं, नाम नैमिषारण्य है॥

———:※:———

श्री सूत

(४)

त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुत हुताग्नयः ।
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात् ॥१

(श्री भा० १ स्क० १ आ० ५ श्लोक)

छप्पय

पृथ्वीपति पृथुराज आदि भू के भूपाला ।
विषम भूमि सम करी, रचे पुर नगर विशाला ॥
मागध सूत बनाय बहुत विधि बिनती कीन्हीं ।
दये देश द्वै मुनिन वृत्ति वाचक वर दीन्हीं ॥

क्षत्रिय पितु माँ ब्राह्मणी, संकरता तें सूत हैं ।
उग्रस्रवा अति विमल मति, कथा कहन तें पूत हैं ॥

पहिले जब पृथ्वी पर राजा वेन राज करते थे, तब सर्वत्र अधर्म फैल गया था। महराज वेन के पिता ने मृत्युकी लड़की के साथ विवाह किया था। इसीलिये उससे जो पुत्र

---

१ एक समय प्रातः काल अपने अग्निहोत्र आदि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर, मुनियों ने—जिनका विधिवत् सत्कार किया गया है, ऐसे पास में ही विराजमान सूतजी से—बड़े आदर के साथ यह प्रश्न पूछा।

उत्पन्न हुआ, उस में अपने नाना के ही सब गुण आये। उसने यज्ञ, याग, धर्म, कर्म, सभी बंद करा दिये। इस पर ऋषियों ने

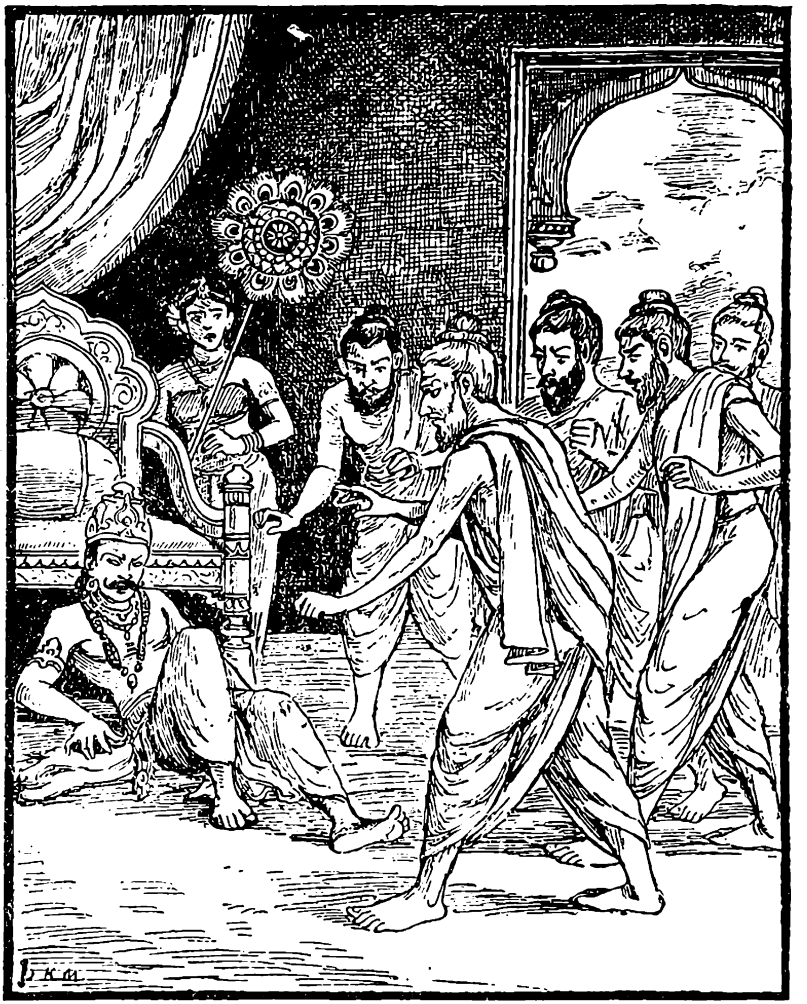

क्रोध पूर्वक हुङ्कार कर के उसे मार डाला। उसके मृतक अंग को मथन करने से भगवान् के अंशावतार महाराज पृथु उत्पन्न हुए। उन महाराज पृथुने बहुत से यज्ञ किये। प्रथम उनके यहाँ एक

यज्ञ हुआ, जिसके प्रधान देवता इन्द्र थे। इसलिये उस यज्ञ का नाम ऐन्द्र यज्ञ हुआ। वृहस्पति भी सूर्यादि ग्रहों के सहित वहाँ स्थित थे। नियमानुसार पहिले गुरु को हवि देकर तब शिष्य को देनी चाहिये। उस यज्ञ में उलटा हो गया, पहिले इन्द्र को देकर तब बृहस्पति को हवि दी गई। ऐसा संकट होने से ही सूति में संकर वर्ण वाले सूत की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणी के क्षेत्र में क्षत्रिय वीर्य से उत्पन्न होने वाली जाति को सूत कहते हैं। यह संकर जाति है। संकर जाति दो प्रकार की होती हैं। अनुलोम संकर और प्रति लोम संकर। उच्चवर्ण के पुरुष के द्वारा हीनवर्ण की स्त्री में जो संतति होती है, उसे अनुलोम संकर कहते हैं। जैसे ब्राह्मण से क्षत्रिय जाति की स्त्री में, क्षत्रिय से वैश्य स्त्री में, वैश्य से शूद्रा स्त्री में, ये सब अनुलोम संकर जाति हैं। कहीं-कहीं तो स्मृति कारों ने इन जातियों को माता की जाति में गिना है और कहीं-कहीं मातृ जाति से श्रेष्ठ और पिता की जाति से कुछ नीचा माना है। जैसे ब्राह्मण के द्वारा क्षत्रिय पत्नी में जो सन्तान हो उसे 'मूर्धाभिषिक्त' कहा है। संकर जाति की वृत्ति उनके मातृ कुल से ही स्मृतिकारों ने निश्चित की है। प्रतिलोम संकर जाति को हेय माना गया है। कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है, कि इनकी कन्याओं को क्षत्रिय ग्रहण कर लेते थे। इनके संस्कार द्विजातियों की भाँति होते हैं। इन्हें यज्ञोपवीत सन्ध्या-वन्दन आदि का भी अधिकार है। महाराज पृथुके यज्ञ में सूत मागध इन दोनों ने राजाधिराज वैन्य की स्तुति की। इनकी स्तुति से प्रसन्न होकर महाराज ने सूत को तो सूत देश और मागध को मगध देश (गोरखपुर के आस-पास का प्रदेश) पारितोषिक में दिये। वहीं पर ऋषियों ने सूत जाति की यह वृत्ति निश्चित कर दी कि ये देवता, ऋषियों और राजाओं के वंशों की पौराणिक

कथायें कहा करेंगे। इतिहास पुराण की कथा कहने का इन्हें अधिकार है, वेदों को छोड़कर। वेदों का अधिकार इन्हें नहीं दिया गया। इस प्रकार सूत जाति का सनातन धर्म इतिहास पुराणों की कथा कहना ही है।

भगवान् व्यास ने जब एक वेद को अत्यंत संक्षिप्त बना कर उसकी भी ४ छोटी-छोटी संहितायें बना दीं, तब उन्होंने पुराणों का भी विभाग किया। पुराण करोड़ों की संख्या में थे। उनमें से भगवान् व्यास ने ४ लक्ष श्लोक निकाल कर उन्हें १८ भागों में विभक्त कर दिया। वेद की ऋग्, यजुः, साम और अथर्व इन संहिताओं को क्रमशः अपने पैल, जैमिनी, वैशम्पायन और सुमन्तु इन चारों शिष्यों को पढ़ाया। इतिहास और पुराणों की शिक्षा भगवान् व्यास ने सूत जाति के अपने प्रिय शिष्य लोमहर्षण जी को दी।

लोमहर्षण बड़े धर्मात्मा थे। व्यास जी के परम प्रिय शिष्य थे। जब शौनकादि महर्षियों ने नैमिषारण्य में अपना यज्ञ आरंभ किया, तो लोमहर्षण को बुलाकर कथा वाचक के प्रधान पद पर नियुक्त किया। ऋषि सर्व समर्थ हैं, वे जिसे जो चाहें बना दें। वेद मंत्रों से पाषाण की प्रतिमा में प्राण प्रतिष्ठा करके उसमें देवत्व स्थापित कर देते हैं। उनके वचन ही शास्त्र होते हैं। उनकी आज्ञा आर्ष वचन कह कर सर्वत्र मान्य समझी जाती है। ऋषियों ने नैमिषारण्य के यज्ञ में लोमहर्षण सूत को ब्रह्मासन प्रदान किया। समस्त ऋषि मुनि नीचे बैठ कर कथा सुनते, वे उच्चासन पर बैठ कर सब को भाँति-भाँति की कथायें सुनाते।

उसी समय तीर्थ यात्रा करते-करते कृष्णाग्रज, हल-मूषल धारी भगवान् बलदेव जी वहाँ ऋषियों के यज्ञ में आ पहुँचे। सब ऋषियों ने उठ कर उन्हें अभ्युत्थान दिया। उनका स्वागत-सत्कार करके कुशल-क्षेम पूछी, किन्तु लोमहर्षण जी अपने उच्चासन पर ही डटे रहे। नियम तो ऐसा ही है, कि व्यासासन पर बैठे हुए पुरुष को किसी को अभ्युत्थान न देना चाहिये। फिर भी इसमें अपवाद होता है, कोई बहुत विशिष्ट व्यक्ति आवे, तो व्यासासन से भी उसका यथोचित सम्मान सत्कार करना चाहिये। बलराम जी तो साक्षात् शेष जी के अवतार ही थे। चतुर्व्यूह में ये साक्षात् संकर्षण ही हैं। जब इतने बड़े-बड़े ऋषि महर्षियों ने—क्षत्रिय होने पर भी—श्री बलरामजी का उठ कर स्वागत सत्कार किया, उनकी भगवत् बुद्धि से पूजा की, तो

सूत जी को भी उनका सम्मान करना ही चाहिये। किन्तु भावी

वश उन्होंने कुछ भी नहीं किया। इस पर संहार शक्ति वाले संकर्षण भगवान् को क्रोध आ गया। यद्यपि तीर्थ यात्रा के व्रत में व्रती होने के कारण वे न्यस्त शस्त्र थे। उन्होंने प्रियशस्त्र हल मूषल तक का त्याग कर रखा था, फिर भी दिव्य अस्त्र तो उनके संकल्प में स्थित ही थे। हाथ में जो कुशों का मूँठा लिये हुए थे, उसी में से एक कुशा निकाल कर उसमें ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके सूतजी उन्होंने पर प्रहार किया। सूतजी तत्क्षण निष्प्राण होकर आसन से नीचे गिर पड़े।

ऋषि मंडली में हाहाकार मच गया। 'महाभाग! आपने यह क्या किया? आपने इन्हें मार क्यों डाला? हमने तो इन्हें जान-बूझ कर ब्रह्मासन दिया और इन्हें सहस्र वर्ष की आयु भी प्रदान कर दी थी। जब तक हमारा यज्ञ समाप्त नहीं होता, तब तक इनकी किसी भी तरह मृत्यु नहीं थी। आपने ब्रह्मास्त्र छोड़ कर यह अनुचित कार्य किया। आपको ब्रह्महत्या के समान पाप लगा। यद्यपि आप पाप पुण्य से परे हैं, फिर भी आपने मनुष्य देह धारण की है। इसका आपको प्रायश्चित्त करना चाहिए।

ऋषियों के वचन सुन कर बलदेव जी ने कहा—"ऋषियो! मैंने भूल में ऐसा कर डाला। अब आप जो कहें, वह मैं करने को तैयार हूँ।"

ऋषियों ने कहा—"देव! हमारा आशीर्वाद निष्फल न हो।"

बलदेव जी ने कहा—"तो क्या मैं इसे अपने योग बल से जिला दूँ?"

ऋषियों ने कहा—"तब आपका ब्रह्मास्त्र निष्फल हो जायगा। हमें कभी व्यर्थ न होने वाले ब्रह्मा जी के अमोघ अस्त्र का अपमान करना अभीष्ट नहीं।"

"तब फिर आप जैसी आज्ञा करें?" बलदेव जी बोले।

आप जो उचित समझें वही करें। हमारा वरदान भी सत्य हो, आपका अस्त्र भी निष्फल न हो।" ऋषियों ने सर्व सम्मत उत्तर दिया।

तब बलदेव जी ने कहा—"अच्छा, आत्मा से उत्पन्न होने के कारण पुत्र को अपना ही रूप बताया है। अतः इनके समस्त गुण, समस्त ज्ञान, समस्त वरदान इनके पुत्र उग्रश्रवा के शरीर में विद्यमान हो जायँ। वे ही आपके यज्ञ को यथावत् पूर्ण करें। वे ही आपको समस्त इतिहास, पुराणों की कथा सुनावें।"

ऋषियों ने 'साधु! साधु!'कह कर इसे स्वीकार किया। तभी से उग्रश्रवा पुराणों के वक्ता बने। उग्रश्रवा कभी कभी नैमिषारण्य छोड़कर इधर उधर भी चले जाते थे। शौनकादि ऋषियों ने अपना यह सत्र महाभारत होने के बहुत पहिले ही आरम्भ कर दिया था। क्योंकि श्री बलदेव जी महाभारत के ही समय तीर्थ-यात्रा के निमित्त नैमिषारण्य आये थे। उस समय वहाँ सत्र चल रहा था। महाभारत यज्ञ में कौरव पक्षीय सब मारे गये। महाराज युधिष्ठिर चक्रवर्ती राजा हुए। उन्होंने लगभग ३० वर्ष राज्य किया। जब श्री भगवान् अपने स्वधाम को पधार गये तब पाँडव भी अपने पौत्र महाराज परीक्षित को राज्य देकर हिमालय की ओर महाप्रस्थान के पथ पर अग्रसर हुए। इसके अनन्तर लगभग ३०

वर्ष महाराज परीक्षित ने राज्य किया। जब श्री शुकदेव जी गंगा तट—शुकदेव आश्रम—पर महाराज परीक्षित को श्रीमद्-भागवत सुना रहे थे, तब ये परम बुद्धिमान् उग्रश्रवा सूत जी भी वहाँ उपस्थित थे। इनका नाम ही उग्रश्रवा ठहरा। इनकी श्रवण करके, धारण करने की शक्ति बहुत ही उग्र थी। श्री शुकदेव जी से जो भी उन्होंने सुना उसे यथावत् धारण कर लिया। फिर नैमिषारण्य के सत्र में आ गये। इनके पिता लोमहर्षण भी ऋषियों को अनेक पुराणों की धर्मशास्त्र तथा इतिहासों की कथा सुनाते थे, उनके अनन्तर ये भी सुनाते रहे। मालूम होता है ऋषियों ने श्रीमद्भागवत को अपने सत्र के अन्त में सुना। तभी तो यज्ञ की अपेक्षा भगवत्-कथा के प्रति इन सब का अत्यधिक अनुराग बढ़ गया था। ऋषियों ने सूतजी से स्पष्ट कहा—"हे सूत जी! आप बहुत दिन तक जीवें। क्योंकि आप हमें भगवान् अनन्त की अमृतोपम कथा सुना रहे हैं। यह कथा इन मरणशील पुरुषों के लिये अमर बना देने वाली जीवन मूरि है। हम जो यह यज्ञ कर रहे हैं इसका फल निश्चित नहीं। तनिक भी विधि की त्रुटि हो जाय। तो सब किया कराया निष्फल। साङ्गो पाङ्ग निर्विघ्न समाप्त हो जाय, तब तो इससे स्वर्गादि फल मिल सकता है, नहीं तो इसमें केवल श्रम ही श्रम है। सच तो यह है, कि इस यज्ञ के काले धुएँ से हमारा मन भी सदा शंकित—धूम्र वर्ण का—हो गया है। बस, इसमें यही एक परम लाभ है, कि तुम हमें श्री गोविन्द भगवान् के पाद पद्मों का मधुमय मत्त कर देने वाला अद्भुत आसव पिला रहे हो। इसे पीकर हम तृप्त हो रहे हैं।" इस प्रकार ऋषियों का मन सदा श्रीकृष्ण गुणानु-वाद में ही फँसा रहता था। सब कथा सुनने के अनन्तर

एक दिन ऋषियों के मनोगत भाव को समझ कर, श्री शौनक जी ने सूतजी से एक अत्यन्त ही अद्‌भुत प्रश्न किया। जिसका वर्णन आगे होगा।

सोरठा

कही कथा कमनीय, शौनकादि तें सूतजी।
हर्षित होवे हीय, भवमय भंजन होय सुनि॥

—०—

सर्वोत्कृष्ट प्रश्न

(५)

तत्र-तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद् विनिश्चितम्।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥१

छप्पय

पढ़े शास्त्र इतिहास पुराणादिक सब तुमने।
कही कथा अति मधुर सुनीं श्रद्धातें सब ने॥
सब शास्त्रनि को सार सूतजी शीघ्र सुनाओ।
कृष्ण चरित कहि पुण्य प्रेम-पीयूष पिलाओ॥

शास्त्र ज्ञान पय जमा कें, दधि मथि सार जनाइ दो।
खट्टो मट्ठा पृथक् करि, मक्खन मधुर चखाइ दो॥

मनुष्य जब बहुत सुनते-सुनते थक जाता है, तो उसके मन में सार वस्तु समझने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वह सर्वोत्कृष्ट सारातिसार तत्त्व का समझने के लिए लालायित होता है।

---

१ हे आयुष्मन् सूतजी ! आपने सब शास्त्रों में मनुष्यों के कल्याण के लिये, जो सर्वोत्कृष्ट-कभी भी व्यर्थ न होने वाला अमोघ साधन सरलता के साथ सर्व सम्मत समझा हो, आज उसी सर्व श्रेष्ठ साधन को हमसे कहिये।

परस्पर में अनुकूल प्रतिकूल बातें सुन कर साधारण लोगों का चित्त भ्रम में पड़ जाता है। वह सोचता है, यह करें या वह। अंत में वह विवाद की बातों को त्याग कर सर्वसम्मत सिद्धान्त सुनने को व्याकुल हो उठता है।

यही सब सोच समझ कर श्री शौनकजी ने श्री सूतजी से सर्वोत्कृष्ट सारवस्तु का प्रश्न किया। शौनक जी बोले—"महाभाग सूतजी! आपके परम बुद्धिमान पिताजी हमें परम विचित्र विचित्र कथायें सुनाया करते थे। उनसे हमारा मनोरंजन भी होता था और ज्ञान की वृद्धि भी होती थी। लोमहर्षण जी के ज्ञान की थाह नहीं थी, क्योंकि तुम्हारे पिता ने भगवान् के अवतार श्री व्यास जी की चिरकाल तक सेवा करके, उनसे ज्ञान प्राप्त किया था। वही समस्त ज्ञान बिना कठिन सेवा किये ही, भगवान् बलदेवजी की कृपा से और इन ऋषियों के अनुग्रह से, अनायास ही तुम्हें प्राप्त हो गया है। तुमने सब शास्त्रों को पढ़ा और सुना है। आज हम तुमसे एक परम उत्कृष्ट सारातिसार प्रश्न करते हैं। उसे तुम समाहित चित्त से सुनो और सुन कर उसका यथातथ्य उत्तर दो।

देखो, शास्त्र अनन्त हैं, उनका कोई वारापार नहीं। ज्ञानभंडार अथाह है, कोई भी प्राणी उसका पार नहीं पा सकता। ऋषि अनेक हैं, सभी ने अपनी अपनी अनुभूति के अनुसार अनेक सुंदर साधनों का कथन किया हैं। कुछ साधन देखने में परस्पर एक दूसरे के विपरीत से भी प्रतीत होते हैं। कभी कभी बहुत सी बातों को सुनकर चित्त विभ्रम में भी पड़ जाता है। अब तक तो हमने जो पूछा, उसीका तुमने शास्त्रानुसार उत्तर दिया। जैसे पाद्म की कथा पूछने पर तुमने वही सुना दी। अब हम तुम्हारे ऊपर छोड़ते हैं। समस्त शास्त्रों को पढ़

कर तुमने जो सर्वश्रेष्ठ सार समझा हो आज तुम हमें वही सुनादो। यह ठीक है, कि अनधिकारी के सम्मुख कभी भूल कर भी उपदेश न करना चाहिये और बिना पूछे भी किसी से न कहना चाहिये। किन्तु जो अपना भक्त हो, अपने में स्नेह रखता हो और अपने शासन में हो, उससे उसके हितकी बात बिना पूछे भी कह देनी चाहिये। सो हम तो पूछ रहे हैं। तुम में स्नेह रखते हैं, तुम्हारा सत्कार करते हैं, अतः तुम हम से अपने मनकी बात छिपाओ मत। आज सब खोल कर यथार्थ बात बता दो।

तुम यह भी नहीं कह सकते, कि मैंने तो जैसा कुछ सुना है पढ़ा है, वह आपके सामने कह दिया। मैं सार वस्तु को क्या जानूँ सो, यह बात भी नहीं हो सकती। क्योंकि तुम्हारे ऊपर भगवान् व्यास देव की बाल्य-काल से ही कृपा है। अन्य ऋषि भी तुमसे स्नेह रखते हैं। सभी ने तुम्हें अपने आन्तरिक भाव बताये हैं, तुम स्वयं भी बड़े बुद्धिमान हो। तुमने भी सब पढ़ सुनकर सबका अंतिम निचोड़ निकाला ही होगा। उसी निचोड़को आज सुनादो।

तुम कह सकते हो—महाराज! आप इतनी शीघ्रता कर क्यों रहे हैं। सब सुनते चलिये, पीछे अपने आप ही सार तत्व समझ में आ जायगा। सो भैया, इतना समय कहाँ हैं, विशेष कर कलियुगी जीवों के पास। यद्यपि हमारे इस यज्ञ में काल की, कलियुग की, मृत्यु की, किसी की भी बाधा नहीं; किन्तु हमें तो आगे पीछे का सभी बिचार करना हैं। अब आगे कलियुग में बड़े क्रूर कर्मा, मंदमति पुरुष होंगे। दिनरात्रि संसारी प्रपंचों में ही व्याप्त रहेंगे। उन्हें परमार्थ चिन्तनको समय ही न रहेगा। सभी जीव अल्पायु होंगे, अधिकांश समय शरीर के भरण-

पोषण में तथा कुटुम्ब की चिन्ता में ही बीत जायगा। वे लोग सब शास्त्रों का श्रवण मनन करके अपनी बुद्धि से सारा सार का निर्णय न कर सकेंगे। फिर "श्रेयांसिबहुनिघ्नानि" प्रत्येक साधन में—प्रत्येक कार्यों में—बड़े बड़े विघ्न, भाँति २ के उपद्रव होंगे। उन कलियुगी जीवों की बुद्धि भी बहुत विशाल न होगी। स्वतः सहसा किसी बात का सर्व सम्मत निर्णय भी कठिन हो जायगा। इस लिये तुम हमें यह मत बताओ कि यह बात उस शास्त्र में यों लिखी है। जो लिखी है, सब ठीक है, उसे अब तक सुना भी है। अब तो तुम अपने मन से शास्त्ररूपी दधि को मथ कर सुंदर, स्वच्छ, सौंधा, स्वादिष्ट, शुभ्र नवनीत हमारे सामने रखदो। जिसके खाने से जिह्वा भी तुष्ट हो, शरीर भी पुष्ट हो और बुभुक्षा भी शान्त हो। अब दूध-दही-छाछ में हमारी रुचि रही नहीं। यद्यपि हम यह जानते हैं, कि नवनीत दूध से ही निकाला जाता है, किन्तु निकालने की चातुरी से उसमें सबसे अधिक स्वाद होता है। सब निकाल भी नहीं सकते। इसी भाँति हम यह नहीं कहते कि तुम शास्त्र के बाहर की बातें बताओ। नहीं, तुम कहो शास्त्रों की बात, किन्तु अब बिस्तार मत करो, सार बात संक्षेप में बता दो। हम इसके लिये बड़े उत्सुक हैं, श्रद्धावान् हैं, इसलिये अब देर मत करो। उसे सुनकर हमारा रोम रोम प्रसन्न हो जायगा। हमें परम शांति प्राप्त होगी।

तुम कहोगे—आपने भी तो सब शास्त्रों का श्रवण किया है, आप सर्व साधन सम्पन्न हैं। सदा सर्वदा शास्त्र चिंतन, सत्संग में ही समय बिताते हैं, आपने भी तो कुछ सार समझा होगा। पहिले आप बताइये आपने क्या सर्वश्रेष्ठ

निश्चय किया। आपको कौनसी वस्तु अधिक रुचिकर प्रतीत हुई। किसे सुनकर आपका हृदय हुलसित हुआ। प्रेम की हिलोरें किसके श्रवण से अधिक उठने लगीं। सो तुम मेरा भी निर्णय सुनलो और यदि हमारा तुम्हारा निर्णय एकसाही हो, तो तुम अब इधर उधर की सभी बातों को छोड़ कर, उसी का कथन करो।

सूत जी! मैंने तो यह समझा है, कि "श्री कृष्ण" यही सार है। अब आप कहेंगे श्री कृष्ण क्या? कृष्ण माने 'काला'। तो काला रंग सार है या 'कृष्ण' दो शब्द वाला नाम सार है। सो, सूत जी! नाम और नामी में परस्पर कोई भेद नहीं हुआ करता। 'उग्रश्रवा' कहते ही हमारे सम्मुख उग्रश्रवासूत की सौम्य मूर्ति आ जाती है। यह सत्य है, कि श्री भगवान् इन प्राकृत नाम रूपों से परे हैं। वे मायिक जगत् की सीमामें आवद्ध नहीं, किन्तु जब वे नर रूप में अवतरित होते हैं, तो उनके अचिन्त्य दिव्य कर्म सर्वदा अलौकिक होते हैं और वे सुनने पर संसार से पार करने में समर्थ होते हैं। हमने ऐसा सुना है, कि स्वयं साक्षात् श्रीहरि ने धराधाम पर देवकी वसुदेव के यहाँ अवतरित होकर दिव्य मानुषीय क्रीड़ायें की हैं। उन्हीं कमनीय क्रीडाओं का कथन आप हम श्रद्धालुओं के सम्मुख कीजिये। श्रीकृष्ण की लीलाओं का स्वारस्य और महात्म्य तो अनंत है केवल उनके नाम में ही इतनी शक्ति है, कि अनिच्छा से भी यदि कोई भगवान के नामों का उच्चारण करता है, तो वह सभी प्रकार के पापों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त हो जाता है। वे श्रीहरि काल के भी काल, मृत्यु के भी मृत्यु और भय को भी भय देने वाले हैं।

आप कहेंगे कि आप उनके नाम, लीला, गुण, कीर्तन के ही लिये इतना आग्रह क्यों करते हैं। सो, हम करें भी तो क्या, जितने भी बड़े बड़े बुद्धिमान् विद्वान् ऋषि, महर्षि हुए हैं सभी ने तो उन्हीं के दिव्य कर्मों का कथन किया है। क्योंकि उनकी महिमा ही अनन्त है। उनके सम्पूर्ण श्री अंग की महिमा को तो जाने दीजिये। एक अंग के संसर्गी की महिमा पर ही विचार कीजिये। शरीर के मल आदि दोषों से, क्षुद्र पातक और उपपातकों से अथवा जो महापातकों से भी युक्त पुरुष होते हैं, वे अपनी शुद्धि के लिये कहाँ जाते हैं? श्री गंगा जी की शरण में ही तो जाते हैं। श्री गंगा जी के जल के स्पर्श मात्र से महान् से महान् पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। श्री गंगा जी स्वर्ग की नसैंनी और पाप काटने की छैंनी, इस नाम आदि से संसार में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। शास्त्रों में गंगा जी की महिमा सर्वत्र बड़े विस्तार से गाई गई है। कोई कहीं दूर देश में भी यदि मरा हो और उसकी अस्थि किसी तरह आकर गंगा जी में गिर जायँ, तो वह सब पापों से छूट कर स्वर्ग को चला जाता है। जिन गंगा जी की इतनी महिमा है, वे गंगा जी हैं क्या? श्री भगवान् के चरणों का धोवन ही तो हैं, सम्पूर्ण चरण भी नहीं। श्री चरण का एक अंगुष्ठ मात्र के लगने से ब्रह्मांड कटाह को भेद कर, ये भगवती त्रिपथगा तीनों लोकों में व्याप्त हो गईं। केवल अंगुष्ठ मात्र के संसर्ग से भगवती भागीरथी की इतनी भारी महिमा हो गई। फिर जो अत्यंत शुद्धि का उत्सुक हो, वह उन प्रभु के त्रैलोक्य पावन यश को क्यों नहीं सुनेगा?

निर्गुण का ज्ञान होता है, किन्तु भगवान् के सगुण रूप में तो भक्ति होती है, उसकी श्रद्धा से सेवा-पूजा करते हैं, प्रेम से

उनके दिव्य गुणों का गान करते हैं, उनके त्रैलोक्य पावन नामों का उन्मत्त होकर प्रेम पूर्वक उच्चारण करते हैं। इससे हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, सब संशय दूर हो जाते हैं। सभी प्रकार के पुण्य पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं। इसलिये उन आत्माराम, लोकाभिराम, सर्वऐश्वर्य्यसम्मन्न, भगवान् वासुदेव की कथाओं को आप हमें सुनाइये।

आप कह सकते हैं—"सैकड़ों वर्षों से तो आप यही सब सुन रहे है। इतने दिनों से सुनते सुनते भी आपकी तृप्ति नहीं हुई ?" सो भैया, यह तृप्ति की चीज ही नहीं यह ऐसा रस है कि जितना ही इसे पीते हैं, उतनी ही इच्छा बढ़ती जाती है। संसारी विषयों को ही ले लीजिये। जिनमें क्षणिक आभास मात्र सुख है। एक बार भोग लेने पर फिर इच्छा बढ़ती है। नित्य प्रति पदार्थों का उपयोग करते हुए भी, दूसरे दिन फिर फिर उसी के उपभोग की इच्छा होती है। सो यह तो परम मधुरातिमधुर रस है। दूसरे चाहे किसी की तृप्ति भले ही हो जाती हो, सूत जी! हम आप से सत्य कहते हैं, हमारी तृप्ति तो इससे न हुई है, न है और न आगे होगी ही। अब आप और सब इधर उधर की बातों को छोड़ कर केवल अवतार चरितों का ही कथन करें। ये चरित तो पद पद पर मिठास से भरे हैं। जितना ही इनका रस लेते हैं, उतना ही लोभ बढ़ता जाता है। इसलिये आप हमें कृष्ण कथा ही सुनाइये। अकेले कृष्ण की ही नहीं उनके बड़े भाई बलराम की भी कथा सुनावें, क्योंकि वे भी तो उनके ही रूप हैं, वे भी तो अवतार हैं और अकेले उन्होंने क्रीड़ा की भी नहीं। दोनों भाई साल भर के अन्तर से साथ ही उत्पन्न हुए। साथ ही बढ़े, साथ ही

लड़े, साथ ही रहे और साथ ही अपने स्वधाम को पधारे। इसलिये दोनों भाइयों की ललित लीलाओं का आस्वादन कराइये। दोनों के ही गुणों का गान कीजिये, दोनों के ही चरित्रों की चासनी चखाइये।

आप कहेंगे जब ये इतने स्वादु, सर्वहितकारी, सुन्दर चरित्र हैं, तब फिर आप यहाँ एकान्त में बैठे अकेले ही क्यों आस्वादन कर रहे हैं। संसार में घूमिये, वक्तृता दीजिये, सभायें कीजिये, सबको समझाइये। अकेले अपना उद्धार क्या बात है, सभी का उद्धार कीजिये।

सो, सूत जी! यह आपका कथन ठीक है, किन्तु अब तो घोर कलिकाल आ रहा है। इस कठिन कराल कलिकाल को पार करना बड़ा ही दुष्कर है इसे साधारण लोग पार नहीं कर सकते। विषयों की ओर जीवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। धर्म पालन के लिये सहिष्णुता साहस की आवश्यकता पड़ती है। भाँति भाँति के क्लेश सहने को जब मनुष्य उद्यत हो, तब धर्म का पालन होता है। अधर्म की प्रवृत्ति देखने में लुभावनी और सरल सी दीखती है, परलोक में चाहे उसका कितना भी अनिष्टकारी परिणाम हो। अधर्म में प्रवृत्त होने वाला पुरुष सोच लेता है—'परलोक किसने देखा है। यहाँ खूब मौज उड़ाओ, फिर की फिर देखी जायगी।' इस प्रकार विषयों में निमग्न होकर जीव संसार सागर में गोता खा रहे हैं। किन्तु भगवान् ने हमें इस सागर में डूबते हुए को बचा लिया, क्योंकि इससे पार कराने के लिये कर्णधार रूपी आपको भेज दिया। आप हमें भगवत् चरित्र सुना रहे हैं। धर्म का उपदेश दे रहे हैं। धर्म की रक्षा करने वाले तो वे ही श्रीहरि हैं। जब

जब धर्म की ग्लानि होती है, तब तब साधु पुरुषों के परित्राण के लिये और दुष्ट प्रकृति के पुरुषों के विनाश के निमित्त, नाना रूपों में वे अवतरित होते हैं। भगवान् वासुदेव, नन्दनन्दन संकर्षण आदि रूपों से धर्म की सदा सावधानी से रक्षा करते रहे। उनके स्वधाम पधारने पर धर्म की क्या दशा हुई, यह भी आप हमें सुनाइये।

सूत जी! अब हम इस पुण्य स्थल को छोड़कर कहाँ जायँ? किसे उपदेश करें? कोई सुनने वाला हो तब तो करें। जिसने गन्दे खारे जल को खूब गले तक पी लिया है, फिर उसके सम्मुख कितना भी मधुर शीतल गंगा जल क्यों न रखो, उसे पीने की रुचि ही न होगी। जिसने खूब भर पेट भूख से भी अधिक भोजन कर लिया है, उसके सम्मुख भाँति भाँति के व्यंजन रखो, वह खा ही नहीं सकता। इसी प्रकार ये संसारी लोग विषयों में आवद्ध हैं। इन्होंने अपने मन को भाँति भाँति के विषयों से भर रखा है, इसीलिये इन्हें भगवत् नाम गुण कीर्तन, भगवत् कथा श्रवण की जिज्ञासा ही नहीं होती। बिना जिज्ञासा के कहना अपने समय का दुरुपयोग करना हैं। इसलिये हम कहीं आते जाते नहीं। जिसे जिज्ञासा होगी यहीं आ जायगा। हमारे इस भगवन्नाम गुण कीर्तन रूपी सत्र का द्वार सभी के लिये खुला है, जो भी आवे भगवान् की कथा सुने, किसी को मनाई नहीं, देश काल, जाति, वर्ण किसी का बन्धन नहीं। इसीलिये कलि को आया हुआ समझ कर हम इस वैष्णव क्षेत्र में दीर्घसत्र की दीक्षा लेकर, भगवान् की कथा के लिये समय निकाल कर बैठे हुए हैं। अब आप हमें सर्वोत्कृष्ट सारातिसार तत्व का उपदेश कीजिये।

छप्पय

कलियुग आयो जानि आनि बैठे वर बन में।
विष्णु बताई बाट चक्र ले आयो छिन में॥
जानि वैष्णव क्षेत्र यज्ञ की दीक्षा लीन्हीं।
कृष्णकथा नितसुनें सबनि शुभ सम्मति कीन्हीं॥

सूत! जगत तें मोरि मुख, कृष्ण चरन में चित दियो।
कृष्ण कथा कलि मल हरनि, कही कृपा करि हित कियो॥

परम धर्म

(६)

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ॥१

(श्री० भा० १ स्क० २ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

परम धर्म है यही भक्ति भगवत में होवे।
होवे हर्षित हृदय मलिनता मन की खोवे॥
हेतु रहित निष्काम भक्ति अति परम सुहाई।
सब शास्त्रनि को सार यही मेरे मन भाई॥

शौनक जी! सच सच कहूँ, सब संतनि सम्मत यही।
भक्ति भनी भागीरथी, विषय वासना विष कही॥

संसार में बड़े बड़े विद्वान् वक्ता तो बहुत मिल जायँगे, किन्तु श्रद्धावान् सच्चे श्रोता बहुत दुर्लभ हैं। उपदेष्टा को यदि मेधावी—बात को समझने वाला बुद्धिमान्—श्रोता मिल जाता है,

---

१ मनुष्यों का वही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान् श्री वासुदेव में अहैतुकी और अव्यभिचारिणी भक्ति हो, जिससे अपनी अन्तरात्मा प्रसन्न हो जाती है।

तो वह अपने हृदय का दरवाजा खोल देता है। उसके सामने कुछ भी नहीं छिपाता। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी में चन्द्रकान्ता मणि स्वयं ही द्रवित होने लगती है, वैसे ही श्रद्धावान् श्रोता के सम्मुख वक्ता की वाणी प्रकाशित होने लगती है।

शौनक जी के ऐसे ऐकान्तिक रहस्य मय प्रश्न को सुनकर, हर्ष के कारण सूतजी के रोयें खड़े हो गये। उनके दोनों नेत्र प्रेमाश्रुओं से भीग गये। हृदय की कलियाँ खिल उठीं, मुख प्रसन्न हो गया। कंठ के गद्‌गद् हो जाने से बड़ी देर तक वे कुछ कह ही न सके। जब प्रेम का वेग कुछ कम हुआ, तब वे हाथ जोड़कर बड़े स्नेह से कहने लगे—"ऋषियो! आपने आज ऐसा अद्‌भुत अलौकिक प्रश्न किया है, जिसे आपके सिवाय कोई कर ही नहीं सकता। आज आपने मुझे कृतार्थ कर दिया। मैं अपनी मलिन मति से इसका यथार्थ उत्तर दे ही नहीं सकता। मैं जो भी कुछ कहूँगा, अपने गुरुदेव भगवान् की कृपा से ही कहूँगा। मेरे पिता ने भगवान् व्यासदेव से समस्त पुराण और इतिहासों का अध्ययन किया था। मैंने उन अपने पिता से ही वे सब शास्त्र सुने, किन्तु सारातिसार तत्व तो मैंने भगवान् व्यासनंदन शुक से ही सुना। अतः वे ही मेरे अज्ञान को नाश करने वाल गुरुदेव हैं। मैं जो भी कुछ कहूँगा, उन्हीं के कृपा-प्रसाद से कहूँगा। गुरु कृपा से ही मनुष्य सब कुछ कर सकता है। मूक भी वक्तृता दे सकता है। पंगु भी गिरि लंघन कर सकता है। मेरे सर्वस्व तो श्री शुकदेव जी ही हैं। उनके चरणों की वन्दना करने के अनन्तर मैं श्री नारायण, नर, नरोत्तम, सरस्वती देवी और अपने

गुरु के भी गुरु भगवान् व्यास की वन्दना करके, आपके प्रश्न का यथातथ्य उत्तर देता हूँ।

आपको तो शंका हो ही क्या सकती है। आप सर्व शास्त्रों में निष्णात हैं। सारासार के मर्म को भली भाँति जानने वाले हैं। आपने यह प्रश्न लोक के कल्याण के निमित्त किया है। मुझे निमित्त बना कर आप इसे संसार के सम्मुख प्रकट करना चाहते हैं। आप ऋषिमुख से प्रकट न करके सूत मुख से बोलना चाहते हैं। सभी तो आपके मुख हैं। यन्त्र का मुख यन्त्री के अधीन है। आप जैसा भाव चाहेंगे। इस यन्त्र से प्रकट करायेंगे। अथवा संसार में कहने योग्य श्रीकृष्ण कथा ही है। उसके अतिरिक्त और कहें भी तो क्या कहें ? इसीलिए आप कृष्ण कथा कहलाना चाहते हैं, कृष्ण कथा से कभी भी किसी कल्याणेच्छुकी तृप्ति न हुई है न होगी। इसमें श्रोता बक्ता दोनों के ही हर्ष होता है। अतः मेरा मन अत्यंत ही आह्लादित हो रहा है। मैं आपके परम पावन प्रश्न का प्रसन्नता के साथ उत्तर दूँगा। आप सब समाहित होकर श्रवण करें।"

सूत जी कहने लगे—"मुनियो ! मैंने तो इसी को सार सुना और समझा है, कि भगवान् के चरणों में अहैतुकी निष्काम भक्ति हो, तो सभी इहलोक परलोक के कार्य बन जायँ। हृदय में यदि भगवान् का वास हो गया, तो फिर उसमें काम क्रोध रूपी असुर रह ही कैसे सकते हैं ! समस्त दुःखों का मूल कारण है 'काम।' पहिले हृदय में विषयों के भोगों की कामना उठती है। विषय भोग संसार में इतने अपर्याप्त हैं, कि इनसे सब प्राणियों की तो कौन कहे, यदि सभी विषय की सामग्रियाँ एक ही पुरुष को दे दी जायँ, तो

वे सब मिलकर भी एक व्यक्ति की तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं हैं। फिर असंख्य पुरुषों की सभी वासनायें नित्य-नित्य पूरी होती रहें, यह असंभव बात है। जब हमें मनोभिलषित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, तो हृदय में क्षोभ उत्पन्न होता है। वह क्षोभ ही चित्त की सभी प्रसन्नता को नष्ट कर देता है। संसार में इसीसे लोगों का चित्त सदा क्षुब्ध बना रहता है। सभी किसी न किसी चिन्ता के वशीभूत होकर चिन्तित बने रहते हैं। उनके मन का मोद विनष्ट हो जाता है। यदि हृदय भक्ति भाव से भरा हुआ हो, तो फिर कोई चिन्ता नहीं रहती। इसीलिए भक्त सदा प्रफुल्लचित्त बने रहते हैं। यदि वे भगवत् प्रेम में रुदन भी करते हैं, तो उनकी कांति फीकी नहीं पड़ती। यही नहीं, रोते समय उनका मुख; कमल की तरह और अधिक खिला हुआ दर्शनीय दिखाई देता है। इस भगवत् भक्तिरूप अनुष्ठान का आरंभ करने से ही बड़े-बड़े दुःखों से मनुष्य स्वतः ही मुक्त हो जाता है।

अब आप एक प्रश्न यह करेंगे, कि "संसार में रह कर हम भक्ति करें भी, तो ज्ञान वैराग्य की प्राप्ति तो होगी नहीं, उसके लिए षट् सम्पत्ति चाहिए। गृहत्याग आवश्यक है, सो इस मार्ग में यह भी आवश्यक नहीं। जैसे राजा कहीं चलता है, तो उसके सेवक स्वयं ही उसके पीछे लग जाते हैं। ऐसे ही निष्काम भक्ति होने पर ज्ञान, वैराग्य अपने आपही आ जाते हैं। ज्ञान वैराग्य तो भक्ति के दुधमुहे बच्चे हैं, वे भला अपनी माँ को छोड़ कर जा ही कहाँ सकते हैं।"

"अब रही त्रिवर्ग की बात। शास्त्रों में बताया है, धर्म करने से अर्थ की प्राप्ति होती है। अर्थ से इंद्रियों को सुख

देनेवाले काम को प्राप्त करते हैं। काम्य पदार्थों के उपभोग से इंद्रियजन्य सुख होता है। संसार में जो भी काम इस प्रयोजन से किए जाते हैं, कि उनसे इस लोक में इंद्रियों को सुख हो और परलोक में भी स्वर्ग की प्राप्ति हो अर्थात् जिससे इस लोक परलोक दोनों में सुख हो, वही धर्म माना गया है। प्रायः देखा गया है, कि भगवत् भक्तों को शारीरिक सुख प्राप्त नहीं होता, होता भी है तो बहुत कम। वे प्रायः निर्धन अकिंचन ही देखे गये हैं, यदि भगवद् भक्ति ही परम धर्म होता, तो धर्म का फल जो अर्थ है, उसकी प्राप्ति उन्हें विपुल मात्रा में होनी चाहिये। धर्म से जितने अर्थ की प्राप्ति होती है परम धर्म के द्वारा उससे कहीं अत्यधिक प्राप्ति हो, तब तो ठीक है, यदि नहीं तो हम कैसे समझें कि भगवत् भक्ति परम धर्म है, क्योंकि धर्म का फल जो अर्थ हैं वह दिखाई नहीं देता।

ऐसी शंका भी भ्रमात्मक ही है। धर्म का वास्तविक फल अर्थ सिद्धि ही नहीं है। धर्म का मुख्य प्रयोजन तो श्री भगवत् चरणारविन्दों में प्रेम होना ही है। जिस धर्मानुष्ठान से प्रभु के पाद पद्मों में प्रेम नहीं होता, जो धर्म भगवत् भक्ति को उत्पन्न नहीं करता, जिस धर्म से भगवान् वासुदेव की त्रैलोक्य पाविनी मुनिमनहारिणी कमनीय कथाओं में रति न हो, वह धर्म नहीं, धर्माभास है। वह निरर्थक परिश्रम है ऊसर को यत्न से सींचने के समान है। धर्म का तात्पर्य कृष्ण कथाओं में एक मात्र अनुराग होना ही है। धर्म का अनुष्ठान अर्थ के लिये नहीं किया जाता। उसका उद्देश तो एक मात्र मोक्ष की प्राप्ति ही है। धर्म धर्म के लिये किया जाता है, न कि काम के

लिये। और धनका फल केवल काम भोग इन्द्रिय सुख ही नहीं है। धन का सदुपयोग तो भगवत् पूजन में हो। विपुल धन हो तो महाराजों की विभूतियों से भगवान् वासुदेव का पूजन करें, उनकी पूजा अर्चाका प्रवंध करें। पूजा के लिये फल पुष्प के उद्यान आराम बनवावें। दिव्य देश—भगवत् मंदिरों—का निर्माण करावें। भगवत् विग्रहों की प्रतिष्ठा करावें। खूब धूम-धाम से पर्व और उत्सवों को मनावे। भगवत् भक्ति का प्रसार और प्रचार करावें। यही धनका यथार्थ उपयोग है।

"अधर्म पूर्वक सदा इन्द्रियों की तृप्ति में ही लगे रहने का नाम-काम नहीं है। काम भी हो तो धर्मपूर्वक ही हो। केवल ऋतुकाल में, अपनी ही पत्नी के समीप, केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही, वंश का मूलोच्छेदन न हो, यह सनातन परम्परा बनी रहे, इसी भवना से, पितरों के ऋण से मुक्त होने के निमित्त ही जाना चाहिये। अन्य इन्द्रियों के विषयों का उपभोग विषय बुद्धि से नहीं, भगवत् प्रसादी समझ कर ही करना चाहिये। विषय तो वे ही हैं, इन्द्रियों की तृप्ति उन से वैसी ही होगी, केवल भावना बदलने की ही आवश्यकता है। अपने को विषयों का किंकर न बना कर केशव का किंकर बनाना चाहिये। उन्हीं केशव को कोई कृष्ण कहते हैं, कोई परतत्व बताते हैं, कोई अविनाशी, अव्यय, अलख, अगोचर कहते हैं। ज्ञानी उन्हीं को ब्रह्म बताते हैं, योगी परमात्मा के नाम से पुकारते हैं, भक्त उन्हीं को भगवान् मान कर पूजा करते हैं। उन्हीं के लिये सब कार्य करना यही त्रिवर्गों का फल है।"

"केवल यश प्रतिष्ठा के लिए, लक्ष्मी के लिए वर्णाश्रम धर्म का पालन किया जाय और उससे श्रीधर भगवान के पाद-पद्मों की

निरंतर स्मृति न बनी रहे, तो वह धर्म वास्तविक धर्म नहीं। हमारी समस्त चेष्टायें नंदनंदन के ही निमित्त हों, यही परमधर्म है, यही सारातिसार है। यही सर्वोत्कृष्ट साधन है। यही मोक्ष से भी बढ़कर परम पुरुषार्थ है। भगवान् को प्रसन्न करना, यही वर्णाश्रम धर्म का प्रयोजन है।

आप लोगों ने पूछा था—'मुख्य कर्तव्य क्या है ?' सो, मैं तो मनुष्य योनि पाने का मुख्य कर्तव्य यही समझता हूँ, कि जैसे भी बने तैसे, जिस उपाय से भी हो, उसी उपाय से, सब बातों से, सब ओर से, मन को बलात् हटाकर, एकान्त भाव से, उन भगवान् वासुदेव की ही लीलाओं का और गुणों का निरंतर श्रवण करना चाहिए। उनके ही मधुरातिमधुर नामों का, त्रैलोक्य पावन यश का कीर्तन करना चाहिए। उन्हीं का एकांत में बैठ कर, सब ओर से चित्त हटाकर, ध्यान करना चाहिए। यथा प्राप्त द्रव्यों से, सभी प्रकार के साधनों से, सभी प्रयत्नों से, उन्हीं परमात्मा का पूजन करना चाहिए।

"शौनकजी ! आपही सोचिए, जिनकी ध्यान रूपी खड्ग से सभी प्रकार के क्लेश, सभी प्रकार की चिन्तायें, सभी प्रकार के बन्धन क्षण भर में कट जाते हैं, उन भवभयहारी, मदन मुरारी के पादपद्मों में कौन प्रेम न करेगा ? किसकी उनके चरणारविन्दों में रति न होगी ? सो, ऋषियो ! मैंने तो यही सर्वश्रेष्ठ सार समझा है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ? वह मुझे आप बतावें। अब मेरा मन परम प्रफुल्लित हो उठा है। आप जो भी पूछेंगे, उसी का मैं उत्तर दूँगा।"

छप्पय

कथा श्रवण नित करें श्रवण वेही हैं सुख कर।
वाणी विमला वही कृष्ण कीर्तन में तत्पर॥
मन-मोहन में मिले सतत हरि चरननि सेवे।
कर्म करे जो कछू कृष्ण अर्पण करि देवे॥

ध्यान खड्ग से कर्म की, ग्रंथि कतरते तीक्ष्ण अति।
जिनको यश पावन परम, को न कथा में करहि रति॥

——

भागवत सेवा से

(७)

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवत सेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥१

(श्री भा० १ स्क० २ अ० १८ श्लोक)

छप्पय

भगवत भक्ति सहाय भागवत ते कहलावें ।
अज अव्यक्त अनादि सगुण साकार लखावें ॥
ले अनन्त अवतार अमित लीला विस्तारें ।
नाम, रूप, गुण, धाम जगत् जीवन कूँ तारें ॥

जो इनकूँ गावें सुनें, नित सेवन सुख से करें ।
भक्त भागवत हैं वही, करत जगत पावन फिरें ॥

सूत जी ने जब बार-बार 'भागवत' शब्द का प्रयोग किया, तब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है, कि 'भागवत' शब्द से अभिप्राय क्या है ? यही विचार कर ऋषियों की ओर से शौनक जी पूछते हैं—"सूत जी ! आपने कई बार कहा 'सब

---

१ जब नित्य प्रति श्रीमद्भागवत अथवा भगीत् भक्तों की सेवा करने से अशुभ वासनाओं का प्रायः नाश हो जाता है तब उत्तम श्लोक भगवान नन्दनन्दन में निश्चल प्रेमरूपी भक्ति उत्पन्न होती है ।

पाप ताप भागवत सेवा से नष्ट हो जाते हैं, तो 'भागवत सेवा' से आप का तात्पर्य क्या है ? भागवत किसे कहते हैं और भागवत का सेवन कैसे करना चाहिये ? क्या श्रीमद्भागवत की पुस्तक की सेवा करे या और कोई गूढ़ अभिप्राय है ?"

ऋषियों के प्रश्न को सुनकर सूत जी बोले—"महानुभावो ! आप सब कुछ समझते हुए भी लोक हित के लिये यह पूछ रहे हैं। 'भागवत' से मेरा अभिप्राय है, जिसका सम्बन्ध भगवान् से हो, आप कहेंगे कि ऐसा कौन सा पदार्थ है, जिसका भगवान् से सम्बन्ध नहीं है ? चराचर विश्व ही उनका रूप है, तृण से लेकर पर्वत पर्यन्त, विन्दु से लेकर सिन्धु पर्यन्त, चीटीं से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त, परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त, सभी में तो वे समान रूप से व्याप्त हैं। उनके बिना किसी की सत्ता ही नहीं। फिर तो 'भागवत' सभी हुए।'

"यह ठीक है। सभी में भगवत् सत्ता है, इससे सभी भागवत हैं ; फिर भी सम्बन्ध सामान्य और विशेष रूप से होता है। सामान्य रूप से तो सभी के साथ सम्बनध है, किन्तु जिनके साथ विशेष सम्बन्ध है, यहाँ उससे ही अभिप्राय है। जो भक्त भगवान् की भक्ति करते हैं वे 'भागवत' कहाते हैं और जिन कथाओं, में जिन ग्रंथों में भगवान् के भक्तों के तथा भगवान् के अवतार, नाम, रूप, लीला, धाम आदि का वर्णन है, वे भी 'भागवत' हैं। भागवान् अनेक रूप धारण करके, अनेक प्रकार की लीलायें करते हैं। उनकी लीलाओं में जो उपकरण हैं, जो भक्त उनकी विशेष कृपा लाभ करते हैं, जिन परम पावन धामों में भगवत् लीलायें होती हैं, अनेक दिव्य गुणों, लीलाओं के कारण भगवान् के जो जगत् पावन नाम प्रकट होते हैं, भगवान् अपने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके जो अनेक रूप

धारण करते हैं, ये सभी 'भागवत' हैं। इनकी कथायें जिनमें हों, वे ग्रन्थ भी भागवत हैं, भगवान् के रूप ही हैं। उनकी पूजा भी भगवत् बुद्धि से करनी चाहिये। अब इसमें एक शंका उठती है। भगवान् के कृपा-प्रसाद प्राप्त भक्तों की कथायें या स्वयं भक्त 'भागवत' हैं यह तो ठीक ही है। किन्तु भक्ति ग्रन्थों में बहुत से अभक्तों की कथाओं का भी तो वर्णन है। जैसे राजा बैनकी, हिरण्याक्ष हिरण्य-कशिपु की, रावण, कुंभकर्ण, शिशुपाल, दन्तवक्त्र कंस आदि आदि की। तो क्या यह सब भी भागवत के अन्तर्गत हैं ?

"इसे आप यों समझें। आप किसी को दुग्ध, जल या घृत देते हैं तो किसी पात्र में ही भर कर देंगे। यद्यपि हमारा स्नेह बच्चे में ही है, किन्तु बच्चे को मिठाई दूध आदि तथा खिलौने बहुत प्रिय हैं। उनके बिना वह रह ही नहीं सकता। हम भी उसे उनके बिना प्रसन्न नहीं रख सकते। अतः बच्चे की प्रसन्नता के साधन होने के कारण वे सब संभार हमें प्रिय हैं। जैसे, हम किसी से स्नेह करते हैं, किन्तु उस स्नेह को प्रकट करने के लिए परस्पर में प्रिय वस्तुओं को देते लेते हैं, अपनी गुप्त से गुप्त रहस्य भरी बातों को उससे कहते हैं, सुनते हैं, अपने घर बुलाकर उसे खिलाते हैं, उसके यहाँ जाकर खाते हैं। यद्यपि इन वस्तुओं में प्रेम नहीं है, किन्तु ये वस्तुयें प्रेम को प्रकट करने के साधन होने के कारण, स्वयं प्रेममय बन जाती हैं। यद्यपि रावण, कुंभकरण, कंस आदि के आचरण दुष्ट थे। किन्तु वे सब भगवत् लीलाओं को प्रकट करने में सहायक थे, जैसे परमभक्त अपनी ऐकांतिक भक्ति से भगवान् को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार परम दुष्ट भी अपनी महान् दुष्टता से भगवान् को अवतार लेने के लिए

विवश कर देता है। उसे निमित्त बनाकर भगवान् भाँति-भाँति की क्रीड़ायें करते हैं। अपने प्रेमी भक्तों को अनेक प्रकार से सुख देते हैं। उनकी दुष्टता ही लीलाओं के आधेय के लिए आधार बनती हैं। ये अपने अत्यंत क्रूर कर्मों से, अत्यधिक अत्याचारों से अनादि, अव्यक्त, अचिन्त्य प्रभु को सर्व-साधारण के सम्मुख व्यक्तरूप से उपस्थित करा देते हैं। इसलिए उनका चरित्र भगवत् चरित्र से भिन्न नहीं है। भगवत् चरित्र ही है और उसका भी नाम भागवत ही है। भक्त अथवा भगवान् का जिससे भी विशेष सम्बन्ध हो गया, उन सब के चरित्र भागवत चरित्रों के अन्तर्गत हैं। बैन यद्यपि दुष्ट था, किन्तु वह भगवान् के अंशावतार महाराज पृथु का पिता था। उसने ऋषि मुनियों के साथ दुष्टता की, उनके द्वारा मारा गया। पृथ्वी-पति पृथु और धर्मस्वरूप ऋषियों के सम्बन्ध से उसका चरित्र भी भागवत चरित्र ही है।

"अब एक शंका आप लोग और उठावेंगे, कि इससे तो यही सिद्ध हुआ भगवान् की अपेक्षा ये प्रबल पराक्रमी असुर स्वभाव के प्राणी ही श्रेष्ठ हुए, जो भगवान् को अवतार लेने को विवश कर देते हैं।

"इसमें कोई सन्देह नहीं। भगवान् से भक्त को श्रेष्ठ ही माना गया है, या दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि भक्त का अपना कोई संकल्प होता ही नहीं। चराचर के स्वामी उसके हृदय में बैठ कर जैसी भी प्रेरणा करते हैं, जैसा भी संकल्प कराते हैं, वह वैसा ही करता है। यथार्थ बात यह है, कि भक्त भगवान् से भिन्न होता ही नहीं; ये रावण, कुम्भकरण, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, शिशुपाल, दन्तवक्त्र और कोई नहीं थे, भगवान्

के नित्यपार्षद, भगवान् के शरीर के एक प्रकार से अङ्ग ही जय और विजय नाम के वैकुण्ठवासी प्रिय अनुचर थे। अकेले बैठे-बैठे भगवान् ऊब जाते हैं। उन्हें कुछ क्रीड़ा करने की कामना होती है। कुछ लड़ाई भिड़ाई, हू हल्ला होता रहे तो मन लगा रहे। अब सर्व समर्थ प्रभु से युद्ध में कौन लड़ सकता है? ऋषि, मुनि, देवता तो दासभाव के उपासक ठहरे। उनसे घंटा बजवा लो, पूजन करवा लो। भगवान् से लड़ने की बात तो क्या, विरोध की भी बात कहो तो कोसों दूर भागेंगे। इनकी तो सदा भगवान् के सम्मुख अंजलि ही बँधी रहती है। यद्यपि भगवान् हर समय इस विनम्रता से ऊब जाते हैं, किन्तु ये विचारे अपने स्वभाव से विवश हैं। भगवान् का स्मरण होते ही आँखें अपने आप बहने लगती हैं, हृदय स्वयं भर आता है, रोएँ स्वतः खड़े हो जाते हैं, कंठ गद्गद् हो जाता है और दोनों हाथ विना प्रयास के जुड़ जाते हैं। लड़ाई, भिड़ाई खुले हाथों से हो सकती है। इसलिये भगवान् अपने अंतरङ्ग सखाओं को अनंत शक्ति समर्पित करके अपने दिव्य लोक से धराधाम पर कौतुक के निमित्त भेजते हैं। जब वे भेजे ही इसी काम के लिये गये हैं, तो उनका दोष क्या? वे भगवान् की इच्छानुसार खूब विरोध करते हैं। जब वे भगवान् के यन्त्र हैं और उन्होंने अपनी शक्ति से ही उन्हें प्रबल बनाया है तब तो वे बड़े हुए ही और उनके चरित्र भागवत चरित्र हुए ही।

"वैसे तो सत्व, रज, तम ये तीनों ही गुण प्रकृति के ही हैं और प्रकृति भगवान् की चेरी है। उनके संकेत पर नृत्य करने वाली है। इन तीनों भावों को ही लेकर श्रीहरि उत्पादक, पालक और संहारक ये तीन रूप धारण करते हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं। फिर भी परम आराधनीय,

परम मंगलमय तो भगवान् की सत्वमूर्ति ही है। सात्वत वैष्णव लोग उसी मूर्ति की आराधना करते हैं, उन्हीं के गुणों का गान करते हैं। शक्ति तो उन्हीं की सब में है। जैसे—अग्नि सब में सर्वत्र व्याप्त है, अग्नि के बिना काष्ठ और धूम आदि सम्भव नहीं। फिर भी लोक में ऐसी परिपाटी दिखाई देती है, कि काष्ठ की अपेक्षा धुँआ और धुँआ की अपेक्षा प्रज्वलित अग्नि श्रेष्ठ समझी जाती है। उसी प्रकार तमोगुण की अपेक्षा रजोगुण और रजोगुण की अपेक्षा सतोगुण श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिये सत्वमूर्ति श्रीहरि के गुणगान करने से अन्तःकरण पवित्र बनता है।

"भागवत का मुख्य आधेय है अवतार तत्व, अवतार कथा में भक्ति-भक्त भागवत सभी का एक साथ समावेश हो जाता है।

"अवतार कथा में केवल भक्त और भगवान् का ही सम्बन्ध है। भगवान् का अवतार दुष्टों के संहार के ही निमित्त नहीं होता। यह तो एक निमित्त मात्र हैं। सत्य बात तो यह है, कि भगवान् केवल भक्तों के निमित्त ही अवतार धारण करते हैं। जैसे गौ दूध अपने बच्चे के लिये ही देती है। बच्चे के लिये उतारने के अनन्तर उससे और लोग भी लाभ उठाते हैं, इसी तरह भगवान् का प्राकट्य केवल भक्तों कोसुख देना ही । भक्तों के भी बहुत भेद हैं। भगवान् को जो भक्त जिस भाव से भजता है, भगवान् भी उसकी उसी भाव से इच्छा पूर्ति करते हैं। भगवान् के अवतार केवल मनुष्य योनि में ही या पृथ्वी पर ही होते हों, सो बात नहीं। वे देवता,

तिर्यक्, पशु, पक्षी सभी योनियों में अवतार धारण करते हैं। उनके अवतार पृथ्वी पर स्वर्गादि ऊपर के लोगों में तथा पृथ्वी के नीचे के लोकों में भी होते हैं। हंसावतार सत्य-लोक में ही हुआ। शूकरावतार महर्लोक में हुआ। इसी प्रकार भगवान् का अनुग्रह जीव मात्र पर है। वे देश काल के बन्धन से मुक्त हैं। सभी जीव उनके लिये समान हैं। जब जिस जाति में जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं तब उसी जाति में प्रकट होकर वहाँ के जीवों को अपनी अद्भुत दिव्य लीलाओं के द्वारा आनन्द प्रदान करते हैं।

"वे प्रभु भूत भावन हैं, चराचर के स्वामी हैं, सबके त्राता हैं। ब्रह्मा रूप बना कर वे ही प्रलय में लीन हुई प्रजा का सृजन करते हैं। वे ही विष्णु रूप धारण करके राजाओं में, देवताओं में, ऋषियों में अपनी शक्ति प्रदान करके तथा नाना अवतार धारण करके इस चराचर जगत् का पालन करते हैं। अन्त में वे ही साक्षात् शिव रूप से समस्त संसार का संहार भी करते हैं। उनकी शक्ति की कोई सीमा नहीं, उनके पुरुषार्थ की कोई परिधि नहीं, उनके अवतारों की कोई गणना नहीं। वे अनादि अनत प्रभु अनेक रूप से कलावतार, अंशावतार, आवेशावतार, युगावतार आदि विविध भेदों से अवतीर्ण होते हैं। उनकी कथाओं के श्रवण को ही 'भगवत सेवा' कहा गया है। उनके अनन्त अवतारों में से कुछ के नाम अत्यन्त संक्षेप में चरित्र के साथ आगे वर्णन करेंगे। इस ग्रन्थ के समस्त चरित्र बस-भक्त और भगवान् के अवतारों के ही होंगे। गाने योग्य भागवत चरित्र ही हैं और सब तो व्यर्थ की बातें हैं।"

छप्पय

जिनके चरित पवित्र हृदय कूँ पावन करते।
सुनकें श्रद्धा सहित मनुज भव सागर तरते॥
तदनुरूप ही भक्त चरित अति ही सुखदाई।
अपने से भी अधिक स्वयं हरि महिमा गाई॥

भक्त कहो भगवन्त वा, भेद न, एक सरूप हैं।
भक्ति भवन के भूप हैं, दोनों चरित अनूप हैं॥

—: ❀ :—

भागवती प्रक्रिया

(८)

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तः स्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥[१]

(श्री भा० १ स्क० २ अ० १७ श्लोक)

छप्पय

जिनको यश गुण नाम गान है सुखकर अतिशय ।
कथा कीरतन करहि कलुष काननि कूँ मधुमय ॥
साधुजनों के सुहृद् सबनि के जो हैं स्वामी ।
अच्युत अजर अनादि अगुण अज अन्तर्यामी ॥

कृष्ण कथा के रसिकवर, श्रोता तिनके हृदय बसि ।
अशुभ वासना मलिन मति, देत तुरत हैं नाथ नसि ॥

औषधि की प्रशंसा सुन कर उसी रोग का रोगी जब उसे सेवन करने की इच्छा करता है, तब उसे उसके सेवन की विधि, पथ्यापथ्य की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अस्त्र-ज्ञान की

---

१ साधुजनों के सुहृद, पुण्य श्रवण कीर्तन श्री भगवान् वासुदेव अपनी कथा सुनने वाले भक्तों के हृदय में विराजमान होकर उनकी समस्त अशुभ वासनाओं को नष्ट कर देते हैं।

इच्छा वाला उसके प्रयोग उपसंहार आदि को भी समझना चाहता है। यंत्र, मंत्र, तन्त्र सभी बिना प्रक्रिया समझे निष्फल हो जाते हैं। सूतजी के द्वारा भगवत् तत्व की ऐसी प्रशंसा सुन कर शौनकादि मुनियों को भावगती कथा की प्रक्रिया सुनने की जिज्ञासा हुई। वे सूतजी से बोले—"महाभाग सूतजी! आपने भागवती कथा की बड़ी प्रशंसा की। समस्त अशुभों का, सभी प्रकार के दुःखों का नाश आपने एकमात्र भागवती कथा का आश्रय ग्रहण करने से ही बताया। कृपा करके हमें यह समझाइये कि भागवती कथा का श्रवण कैसे करना चाहिये? कहाँ पर करना चाहिये? क्या करते हुए करना चाहिये? किनके साथ रह कर करना चाहिये? इन सब बातों का तथा और भी जो इसके उपयोगी हों, उन सब का यथावत वर्णन कीजिये। सूतजी, आपकी वाणी में रस है। सब को और कोई झन्झट तो है नहीं, अतः आपके मुख से श्रीकृष्ण कथा श्रवण करके हमें बड़ा सुख मिलता है। आप हम से सब प्रक्रिया सरलता के साथ कहिये।"

ऋषियों के ऐसा प्रश्न करने पर सूतजी ने कहा—"महानुभावो! महर्षियो! आपने अत्यंत ही उपयोगी प्रश्न पूछा। मैं आपको भागवती प्रक्रिया बताता हूँ। आप सब मेरे ऊपर कृपा की दृष्टि रख कर श्रवण करें।"

"जिस पुरुष को भागवत धर्म की जिज्ञासा हो, उसको सब से पहिले उसमें अत्यन्त रुचि का होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि बिना रुचि के जो कार्य किया जाता है, उसमें रस नहीं आता और नीरस कार्य्य बहुत दिन तक हो नहीं सकता। इसलिये सब से पहिले तो वासुदेव कथा में रुचि होनी चाहिये।

"आप कहेंगे कि मनुष्यों की स्वाभाविक रुचि तो विषयों में है। विषयों के भोगों की कोई शिक्षा नहीं देता। लोग उसे बिना सीखे ही जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों के अधीन होकर करने लगते हैं और धर्म की तथा जप, उपवास, सन्ध्या-वन्दन की इतनी शिक्षा देते हैं, प्रशंसा करते हैं, उनमें रुचि नहीं होती। आप कह रहे हो रुचि के बिना कार्य होता नहीं, तो फिर भगवत् कथा में रुचि कैसे हो ?

"यह बात ठीक है कि मनुष्य की आरंभ में किसी बात में रुचि नहीं होती ; किन्तु निरन्तर करते रहने से उसमें स्वतः रुचि उत्पन्न हो जाती है। बाल्यकाल में बच्चों की मा के दूध को छोड़ कर अन्न में रुचि नहीं होती; किन्तु माता उसे धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा नित्य अन्न का सेवन कराती है। अन्ना तो स्वादुमय होता है। नित्य के सेवन से उनमें रुचि आने लगती है, फिर उसका इतना अभ्यास हो जाता है। वह जीवन में ऐसा एकाकार हो जाता है कि मनुष्य अन्न के बिना रह ही नहीं सकता।

"इसी प्रकार जिज्ञासु को सब से पहिले ऐसे साधु सन्तों की सेवा करनी चाहिये, जिनका आहार ही कथाकीर्तन हो। जो कथाकीर्तन के बिना रह ही न सके। सज्जनों की यही मोटी पहिचान है कि वे मिल कर जहाँ भी बैठेंगे, जो भी बात करेंगे, संसारी बातें न करेंगे। उनके यहाँ भगवत् चर्चा होगी। भगवत् चर्चा अनुकूल पुण्य प्रदेश में सहस्रगुनी फलवती होती है। सब वस्तुओं पर देश का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देश में जिन विचारों के लोग अधिक रहते हैं, उस देश का वायुमंडल भी वैसा ही बन जाता है। तीर्थों में अनादि काल से लोगों

की पवित्र भावनायें रहीं हैं। अब भी जो यात्री तीर्थयात्रा के निमित्त आते हैं, उनमें अधिकांश शुद्ध धार्मिक भावना ही लेकर आते हैं। श्रीगंगा जी आदि जगत् को पावन करनेवाली पावनतम सरिताओं में लोगों की अत्यंत श्रद्धामयी भावनायें भरी रहती हैं। अतः निरन्तर पवित्र तीर्थों के सेवन से भी भगवत् कथाओं में रुचि बढ़ती है।"

"सर्वप्रथम किसी पुण्य पवित्र तीर्थ में कृष्ण कथा लोलुप संतों के समीप रह कर उनको श्रद्धापूर्वक सेवा सत्कार से प्रसन्न करके उनके साथ-साथ कृष्ण कथा का श्रवण करना चाहिये। भगवान् की कथाओं में रुचि का न होना ये पूर्व जन्म के पापों का फल है। इसलिये मन भी न लगे तो संतों के बीच में बैठ कर बेमन से भी, बिना समझे भी कथा सुननी चाहिये। ऐसा करने से धीरे-धीरे कथा की रुचि भी बढ़ती है और विषय भी समझ में आने लगता है।

"कथा को नियम से सुनना चाहिये। उसमें कभी भी प्रमाद न करे, भूल न करे। स्वयं पढ़ने की अपेक्षा कथा के श्रवण करने में भी अधिक लाभ है और अकेले सुनने की अपेक्षा बहुत से लोगों के साथ मिल कर सुनने में उससे भी अधिक लाभ है। साधारण लोगों की अपेक्षा महत् पुरुषों के समीप बैठ कर उसका अनंत फल हो जाता है। महापुरुषों के शरीर से जो एक प्रकार की दीप्ति निकलती है उससे मन स्वतः वश में हो जाता है। उनकी तो कथा में स्वाभाविक रुचि होती है। उनकी रुचि का समीप में बैठे हुए श्रोताओं पर भी प्रभाव पड़ता है। जैसे किसी को दुःख में रोते हुए देख कर और लोगों की आँखों में भी आँसू आ जाते हैं। जैसे किसी को

खट्टी (नीबू आदि) वस्तु खाते देख कर आस-पास के लोगों के भी मुख में पानी भर आता है। जैसे विवस्त्र प्रमदा को देख कर निर्विकार लोगों के मन में भी विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे किसी हँसते हुए बच्चे को देख कर, प्रसन्न मुख व्यक्ति को देख कर हमें भी प्रसन्नता होती है। जैसे किसी की बड़ी-बड़ी आँखों को देख कर हमारी आँखें स्वतः सुख का अनुभव करने लगती हैं और दुखती हुई लाल-लाल पानी भरी आँखों को देख कर अपनी आँखों में भी किरकिरी सी चुभने लगती है और पानी भर आता है। जैसे किसी को वीरता करते देख कर, वीरता की वक्तृता देते देख कर कायरों के हृदयों में भी उत्साह भर जाता है। जैसे किसी अत्यन्त घृणित वीभत्स दुर्मेध्य पदार्थ को देखते ही जी मचलाने लगता है, वमन तक हो जाती है। उसी प्रकार महापुरुषों के समीप बैठ कर कथा सुनने से साधकों को अत्यन्त लाभ होता है क्योंकि जिसके हृदय में भगवान् की भक्ति है, उसके शरीर में सभी सद्गुण स्वतः ही आकर निवास करने लगते हैं। इसलिये सब से पहिले कल्याणेच्छु को पुण्य तीर्थों में रह कर, महापुरुषों के सत्संग में बैठ कर भगवान् वासुदेव की कथा सुननी चाहिये।

ज्यों-ज्यों कथा-कीर्तन में रुचि बढ़ती है त्यों-त्यों हृदय की गन्दी कोठरी स्वच्छ होती जाती है। जैसे कोई आश्रम बहुत दिनों से गन्दा पड़ा हो, तो उसमें नियम से रोज झाड़ देने से, जाले आदि साफ करने से, कलई चूने से पोतने से वह स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार दुर्वासनाओं के द्वारा मलिन हुआ मन, कानों द्वारा भगवान् का नाम भीतर पहुँचते ही शुद्ध होने लगता है। फिर भगवान् वहाँ हृदय की कोठरी में आसन मार कर बैठ जाते हैं। जहाँ भगवान् ने उस पर अपना

अधिकार जमाया। फिर तो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दस्यु जो अब तक उसे अपना अड्डा बनाये हुए थे सिर पर पैर रख कर भागना चाहते हैं। बुरी वासनाओं वाला जो उनका बहुत सा परिवार बढ़ गया था, वे सब भी चलने को उद्यत होते हैं। दुष्टों का विनाश करने वाले प्रभु अपना सुदर्शन चक्र लेकर उन सब का नाश कर देते हैं, जिससे ये फिर कभी न आ सकें। तब वह अन्तःकरण निष्कंटक विशुद्ध बन जाता है।

"अब तक जीव उन काम, क्रोधादि को ही अपना समझे बैठा था। उनसे ही प्रेम करता था। वे सब मर गये। अब प्रेम किससे करे? बिना प्रेम किये प्राणी रह नहीं सकता। जब पुराने प्रेमी नष्ट हो गये तो जो पुते स्वच्छ घर में परम मनोहर मदन मोहन आकर बैठें हैं उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होगा। जैसे खेत ऊबड़ खाबड़ बिना जुता हुआ पड़ा रहे तो उसमें बुरी-बुरी काँटेदार बेलें, इधर उधर के अनावश्यक पौधे उत्पन्न हो जाते हैं। उसी खेत में से जब उन अनावश्यक वृक्षों को काट दिया जाता है, उसे जोत कर, गोड़ कर, जल देकर सुन्दर बना दिया जाता है और सुन्दर सा बीज लाकर बो दिया जाता है, तो फिर उसमें उसी बीज के उत्तम अंकुर उत्पन्न होते हैं। उस अंकुर को स्नेह सलिल से सींचते हुए, उसके समीप के कूड़े-करकट को हटाते हुए उसकी नित्य सेवा करते रहें तो उसमें सुमधुर, सुस्वादु, हृदय को सुख देने वाले फल उत्पन्न होंगे। जिन्हें खाने से तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा की निवृत्ति तीनों साथ ही साथ होंगी। यह अन्तःकरण ही क्षेत्र है। पाप पुण्य ही बीज हैं। सत्संग से पृथक् रहना ही उस क्षेत्र की उपेक्षा

है। सत्संग न करेंगे तो अनेक जन्मों के पापों की जड़ अपने आप जम जायँगी। यदि सत्संग रूपी कुठार से उसको स्वच्छ बना दिया जाय और साधु सेवा रूपी श्रम करके उसे जोत और गोड़ दिया जाय, भगवत् कथा रूपी अमृत रस से उसे सिंचन कर दिया जाय और भगवत् भक्ति रूप बीज उसमें बो दिया जाय तो प्रेम रूपी फल उसमें उत्पन्न होगा। प्रेम फल कितना मधुर, कितना सुस्वादु है, कितना हृद्य है; उसके सेवन से चित्त में कितनी निर्मलता और प्रसन्नता होती है? यह सब कहने की बात नहीं, अनुभव करने की वस्तु है।

हृदय में भगवत् साक्षात्कार होते ही सभी शोक, मोह दूर हो जाते हैं। हृदय के कोने-कोने में जो ग्रंथियाँ पड़ गई थीं वे सब तड़ाक-तड़ाक करके अपने आप ही खुल जाती हैं। सभी प्रकार के संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जितने पाप-पुण्य आदि कर्म हैं, वे सब अपने आप भस्मी-भूत हो जाते हैं। उन वासुदेव के हृदय में आते ही, एकदम परिवर्तन हो जाता है। पुरानी सभी बातें बदल जाती हैं। घोर अन्धकार नाश हो जाता है। पुण्य प्रकाश दशों दिशाओं में छा जाता है। सभी मुँदे हुए कमल खिल जाते हैं। रुद्ध हुआ अमृत का स्रोत तीव्र गति से पुनः बहने लगता है। मानसरोवर क्षीर सागर का रूप धारण कर लेता है। यह जीव रूपी हंस उसमें किलोलें करने लगता है। उस अमृत सागर में अवगाहन करके सुखी होता है, प्रसन्न होता है। किसी प्रकार का बन्धन नहीं, कोई परिधि नहीं, कोई दुःख नहीं, कोई चिन्ता नहीं, कोई प्राप्य वस्तु नहीं। अमृत की वर्षा, अमृत की झड़ी, अमृत का स्नान, अमृत का पान, अमृत का चिन्तन, अमृत बाह्य बन कर

अमृत आनन्दमय हो जाता है। यह सब होता है भागवत सेवन से। अतः ऋषियो! सदा सर्वदा आपको भागवत का सेवन करना चाहिए।"

छप्पय

सेवनीय जो सदा सुलभ सुखदाई सबको।
माखन चोर चरित्र मधुर अति ही कानन को॥
श्रोत्रमार्ग से प्रविशि हृदय में जब आजावे।
करे ज्ञान परकाश तुरत अज्ञान नसावे॥

ज्ञान सूर्य के उदयतें मोह मलिनता दूर हो।
सब संशय दिन में नसें, हृदय प्रेम परिपूर हो॥

•

श्रवण-परम्परा

(६)

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म सम्मितम् ।
उत्तमश्लोक चरितं चकार भगवान् ऋषिः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ३ आ० ४० श्लोक)

छप्पय

पुण्य पुराण महान व्यास भगवान बनाई ।
परमहंस शुकदेव पुत्र को पूर्ण पढ़ाई ॥
गंगा तट पर नृपति परीक्षित शापित होकर ।
मुक्ति द्वार को मार्ग मुनिनि तें पूछे रोकर ॥

कही कथा शुक ने वही, पाप राशि पल में दही ।
श्रद्धा से सुनि सूत ने, शौनकादि से पुनि कही ॥

परम्परा गत गुण, अवगुण प्रायः आगामी संतति में स्वतः आ जाते हैं । यदि किसी कारणवश किसी प्रकार की संकरता का समावेश न हुआ हो तो । इसीलिये आर्य संस्कृति में कुल गोत्र

---

१ यह श्रीमद्भागवत नामक पुराण वेद सम्मत है । इसमें उत्तम श्लोक भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र हैं । इसे भगवान् वेदव्यास जी ने बनाया है ।

पूछने की प्राचीन परिपाटी चली आती है। जो ज्ञान, जो वंश कुलीन है, वह वर्णाश्रम धर्म में आदरणीय होता है। अज्ञात कुलशील, परम्परा हीन ज्ञान प्रायः उपेक्षणीय समझा जाता है। इसमें अनेक अपवाद भी होते हैं; किन्तु साधारण नियम ऐसा ही है।

सूत जी ने संक्षेप में श्रीकृष्ण के कला, अंश और परिपूर्ण अवतारों का दिग्दर्शन कराया। इस ज्ञान को प्रामाणिक बताने के लिये तथा समुपस्थित श्रोताओं की उत्सुकता बढ़ाने के लिये सूत जी अपने ज्ञान की परम्परा बताते हैं।

ऐसा पुरातन नियम है कि विज्ञ पुरुष अनधिकारी के संमुख कोई महत्व पूर्ण कथा नहीं कहते, क्योंकि वे समझते हैं, ऊसर खेत में बीज बोना व्यर्थ ही नहीं है, समय और शक्ति का दुरुपयोग भी करना है। इसलिये श्रवण के सम्बन्ध में सर्व प्रथम नियम तो यह है कि अनधिकारी के सम्मुख ज्ञान को प्रकट न करना। दूसरा यह है बिना पूछे नहीं कहना। बिना पूछे कहने से बात का महत्व चला जाता है। तीसरा नियम यह है कि जितनी योग्यता का अधिकारी हो उतना ही ज्ञान प्रकट करना। उससे अधिक प्रकट करोगे तो वह उसे पूर्ण रीत्या ग्रहण करने में असमर्थ होगा। यदि अधिकारी की योग्यता से न्यून ज्ञान दिया तो उसे सन्तोष न होगा। अतः अधिकारी की योग्यता की परीक्षा के लिये पहिले कोई बात सूत्ररूप में बताई जाती है। उसे सुन कर यदि श्रोता की जिज्ञासा बढ़े और वह उस बात को विस्तार-पूर्वक सुनने की उत्सुकता प्रकट करे तब तो उससे आगे की कथा कहनी चाहिये, नहीं तो उतनी ही कह कर समाप्त कर देनी चाहिये। ऐसी ही परिपाटी प्राचीन ग्रन्थों में पाई जाती है। इसीलिये पहिले

सूत जी ने अत्यंत ही संक्षेप में अवतारों का उल्लेख कर दिया। अवतार कथा का ही नाम भागवत कथा है। ये समस्त अवतार श्रीकृष्ण से ही होते हैं। इन अवतारों के एक मात्र अवतारी नन्द-नन्दन भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ही हैं। अतः अवतार कथा श्रीकृष्ण कथा ही है। कृष्ण कथा से केवल मथुरा बृन्दावन की कथा तथा द्वारिका की कथाओं को न समझना चाहिये। जितने भी अवतारों की कथायें हैं सभी का समावेश कृष्ण कथा में ही हो जाता है।

समस्त ऋषिगण बड़ी श्रद्धा के साथ सूत जी के मुख से कथामृत का दत्तचित्त होकर पान कर रहे थे। उनकी उत्सुकता बढ़ रही थी। सम्पूर्ण शरीर में सभी सात्विक भावों का उदय हो रहा था। उनकी ऐसी दशा देखकर सूत जी का हृदय भर आया। वे उन महाभाग ऋषियों की प्रशंसा करते हुए बोले—"ऋषियो! आपके भाग्य की कौन प्रशंसा कर सकता है? इसीलिये मैं आपको बार-बार महाभाग कह कर सम्बोधित करता हूँ। मैंने पृथ्वी पर विषयी लोगों को देखा है। विषयों में उनका मन ऐसा एकाग्र होता है कि वे समस्त संसार को भूल जाते हैं। नई बधू के आने पर जैसे उसका युवा पति सभी बातों को भूल कर उसी का चिन्तन करता रहता है उसी दृश्य को मैं यहाँ रख कर अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ हूँ। मैं देख रहा हूँ, आपकी कृष्ण कथा से तृप्ति नहीं हो रही है। ज्यों-ज्यों मैं वर्णन करता हूँ, त्यों-त्यों आपकी उत्सुकता बढ़ती ही जाती है। एक तो आप सब उत्तम अधिकारी हैं। कुल परिवार, बन्धु बान्धव सभी से सम्बन्ध विच्छेद करके यहाँ भगवत् चिन्तन के निमित्त बैठे हुए हैं। दूसरे यह क्षेत्र भी इतना पवित्र है कि यहाँ स्वतः ही चित्त एकाग्र होता है।

तीसरे यह कृष्ण कथा ही इतनी सरस मनोज्ञ और चित्त को स्वतः अपनी ओर खींचने वाली है, कि कैसा भी पुरुष हो, सुनते-सुनते मुग्ध हो ही जाता है। भगवान् वासुदेव की कथा का स्वाद जिसे एक बार लग गया, फिर भला वह दूसरी कुत्सित कथाओं को क्यों सुनने लगा? इस कथा को सुनते-सुनते ही संसार विलीन हो जाता है। चित्त उसी चितचोर के चरणों में फँस जाता है। फिर वह संसारी विषयों का चिन्तन कर ही कैसे सकता है। इस भागवती कथा से जब तक मनुष्य दूर रहता है, तभी तक उसका बन्धन है। जहाँ एक बार इसमें निमग्न हुआ कि फिर माया उसी प्रकार लज्जित होकर छिप जाती है, जैसे पीहर में अपने पति को देख कर लजाती हुई लड़की छिप जाती है।

संसार के समस्त प्राणी इस संसार में अपने पाप और पुण्य के कर्मानुसार सुख और दुःख का भोग कर रहे हैं। संसार में बहुत से प्राणी पूर्व जन्मों के पापों से निर्धन हैं, दुखी हैं, नाना व्याधियों से ग्रस्त हैं, भयंकर-भयंकर राज रोगों से पीड़ा पा रहे हैं। बहुत से सुकृत पुण्यात्मा पुरुष उनकी पीड़ा से दुखी होकर दया वश उनके लिए अन्न, वस्त्र का प्रबन्ध करते हैं। औषध उपचार की व्यवस्था करते हैं। इन कार्यों में उनका कोई शारीरिक स्वार्थ नहीं होता, केवल कृपा के वशीभूत हो कर दया से द्रवित होकर दुखियों के दुःख दूर करने के निमित्त स्वयं कष्ट उठाते हैं और उन्हें सुखी बनाते हैं।

आवागमन के चक्कर में पड़े हुए प्राणियों को देख कर भगवान् वेद व्यास का नवनीत के समान हृदय द्रवीभूत हो गया। वे सोचने लगे—"इन प्राणियों का उद्धार कैसे हो? ये विषय भोगों की ही चिन्ता करते-करते तदाकार बन गये।

समस्त इन्द्रियों के विषय जड़ हैं। यदि ये जीव इसी प्रकार जड़ की चिन्ता में निमग्न रहे, तो अन्त में इन्हें पशु-पक्षी, कीट, पतंग, लता, वृक्ष आदि जड़ योनियों में जाना पड़ेगा। फिर इनके उद्धार का कोई उपाय नहीं हो सकता। क्योंकि जड़-योनियों में स्वयं साधन करने की सामर्थ्य नहीं रहती। साधक योनि तो यह मनुष्य योनि ही है। समस्त साधन इसी मानव शरीर से हो सकते हैं। अतः उन्होंने जीवों के ऊपर कृपा करके भक्ति भवन के द्वार के मार्ग को बताने वाले, उसमें सरलता से प्रवेश कराने वाले इस अनुपम भागवत शास्त्र की रचना की। इसमें समस्त शास्त्रों का सार ही भर दिया। इसीलिये यह सब शास्त्रों से बढ़ कर हुआ।

आप कहेंगे, जब यह सब शास्त्रों से ही निकाला गया है, जब इसके समस्त चरित, सम्पूर्ण ज्ञान शास्त्रों से लिये गये हैं, तो यह सब से बढ़कर कैसे हुआ ? इसे आप ध्यानपूर्वक समझिये। हम पूछते हैं, गन्ना श्रेष्ठ है या मिश्री ? आप कहेंगे गन्ना की अपेक्षा मिश्री श्रेष्ठ है। आप सोचें—मिश्री गन्ना से क्यों श्रेष्ठ है ? मिश्री में एक भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो गन्ना से न लिया हो। गन्ना के रस के सार से ही तो मिश्री बनी है। केवल युक्ति कौशल से उसमें से परम उपादेय तत्वों को निकाल लिया है। वैसे गन्ने में एक भी वस्तु व्यर्थ नहीं, सभी का कुछ न कुछ उपयोग है। उसके प्रत्येक अंश किसी न किसी जीव के काम में आवेंगे, किन्तु हम तो मधुरता के उपासक हैं। जिनका गन्ने के फुक्कस से काम चले वे उसे ग्रहण करें। जिनको गुड़ की, लौटा की, चिउटा की, शीरा की, चीनी की आवश्यकता हो वे उनसे काम चलावें। हमें तो मिश्री चाहिये। इसी प्रकार घास की रग-रग में दूध है, किन्तु हम घास से दूध प्राप्त नहीं

कर सकते। यह काम तो गौ ही कर सकती है। घास को खा कर उसका दूध बना देगी। अनन्त शास्त्रों में भरी हुई मधुरा को पचा कर व्यासरूपी कामधेनु हीं सब को जीवनदान देने वाले मधुमय क्षीर को बनाने में समर्थ है।

समस्त जल का कोष तो समुद्र में ही है। कूपों में, तालाबों में, नद और नदियों में मीठा जल समुद्र से हीं तो आता है। यदि सभी समुद्र सूख जायँ तो ये सभी जल के स्रोत बिना जल के हो जायँ। सब के जलदाता समुद्र ही हैं; किन्तु हम स्वयं समुद्र के समीप जाकर जल पीवें तो हमारी पिपासा शान्त न होकर और बढ़ेगी ही। बिना युक्ति के उसके समीप से हमें निराश होकर ही लौटना पड़ेगा। उसी जल को जब बादल भर कर बरसाते हैं, तो वह पीने योग्य मधुर हो जाता है। चराचर प्राणी उसे पीकर प्रसन्न होते हैं, जीवन धारण करते हैं।

दूध से ही नवनीत बनता है, किन्तु दूध से कहीं अधिक स्वादिष्ट पौष्टिक और बलवर्धक नवनीत घृत होता है। स्वर्ग की अप्सरायें समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला पारिजात, जरा मरण को दूर करने वाला अमृत, समस्त लोकों को दीप्ति देने वाले विष्णुप्रिया लक्ष्मी ये सभी वस्तुएँ, क्षीरसागर में ही छिपी थीं। प्रबल पराक्रमी दैत्य, सब गुणों की खानि देवता इन सबको न निकाल सके। जब श्रीहरि ने समुद्र मन्थन के द्वारा उस अमृत को प्रकट किया तो वह सभी के शोक, मोह, जरा मृत्यु को हरने वाला पदार्थ उत्पन्न हुआ। श्रीहरि के बिना समुद्र का मन्थन करके उसमें से सार वस्तु को कौन निकाल सकता है।

इसी प्रकार शास्त्र रूपी समुद्र को श्रीनारायण के कल्प अंशावतार भगवान् व्यास ने मथ कर यह भागवत रूपी अमृत प्रकट किया। जब यह दिव्य अमृत प्रकट हुआ, तो उन्हें चिन्ता हुई, इसे किसको पढ़ावें। अनधिकारी को पढ़ाना व्यर्थ है। उनके यहाँ बहुत से शिष्य थे। सभी ने कहा—'प्रभो! हमें पढ़ाइये, हमें पढ़ाइये।' किन्तु सत्यवती नन्दन भगवान् व्यास जी ने किसी की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। सभी से सरलता से कह दिया—भैया, तुम इसके अधिकारी नहीं।

इसी बीच उनके पुत्र शुकदेव जी प्रकट हुए। उन्हें इसका उत्तम अधिकारी समझ कर भगवान् व्यास ने इस कृष्ण कथा को पढ़ाया। निजानन्द में मग्न, परमहंस चक्र चूड़ामणि भगवान् शुक ने इस सारातिसार रहस्य शास्त्र को गंगा किनारे दुखी बैठे हुए महाराज परीक्षित को सात दिन में सुनाया।

ब्राह्मण के शाप से शापित अन्न-जल का परित्याग किये हुए महाराज परीक्षित ने श्री शुक से यह सारातिसार शास्त्र श्रद्धा और संयम के साथ सुना। वहाँ वे चक्रवर्ती सम्राट् अकेले ही नहीं थे। उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने के लिए सभी दिशाओं से ऋषि मुनि पधारे थे और वे उन धर्मात्मा राजा को चारों ओर से घेरे बैठे थे।

वहीं यह ग्रन्थ प्रकट हुआ। यह ग्रन्थ क्या है मानों स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण ही इस रूप में पुनः अवतीर्ण हुए। जब सम्पूर्ण संसार के स्वामी श्री हरि इस धराधाम को त्याग कर स्वधाम पधारने लगे तब उनके साथ ही साथ दया, धर्म, ज्ञान, सत्य, शौच आदि गुण चले गये। ऋषि, महर्षि सभी बड़े दुखी हुए। सभी को अज्ञान अन्धकार ने आकर आवृत कर

लिया। श्रेय और प्रेय का विवेक नष्ट हो गया। कुछ भी भला-बुरा दिखाई नहीं देता था। उसी समय यह भगवत रूपी महान् ज्ञान सूर्य प्रकट हुआ। इसके प्रकट होते ही सब वस्तुएँ यथावत् दिखाई देने लगीं। सत्यासत्य और सारासार का विवेक होने लगा। इस ग्रन्थ ने सभी की आँखों में व्याप्त अन्धकार को दूर कर दिया। सभी कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में समर्थ हो गये।

संयोग की बात, भगवत् कृपा से उस महान समाज में मैं भी उपस्थित था। मन लगा कर समस्त चित्त की वृत्तियों का निरोध कर के मैंने भी इस शास्त्र को श्रद्धा सहित श्रीशुक के मुख से सुना। मुझमें इतनी सामर्थ्य कहाँ थी जो इसे सुन कर यथावत ज्यों का त्यों धारण कर लेता, किन्तु उन कृपालु प्रभु ने मुझे अधिकारी समझ कर ऐसी शक्ति प्रदान की। उन्हीं की कृपा से मैं इसे धारण करने में समर्थ हुआ।

हे ऋषियो ! मैं उसी कमनीय कृष्ण कथा को, उसी वन्दनीय भागवत शास्त्र को आप सबके सम्मुख निवेदन करूँगा। अब आप सोचते हो कि जैसे परमहंस शिरोमणि भगवान शुक ने जिस प्रेम से, जिस सुन्दर स्वर से, जिस प्रकार गंभीरता और ओज के साथ समस्त ऋषियों के सहित महाराज परीक्षित को सुनाई थी उसी प्रकार मैं भी आपको सुनाऊँ। यह सम्भव नहीं। शुक शुक ही हैं, मैं मैं ही हूँ। कपोत भला गरुड़ की समानता कैसे कर सकता है ? कौआ राजहंस की चाल कैसे चल सकता है, काक भला कोयल की बोली कैसे बोल सकता है। फिर भी जैसी कुछ मेरी बुद्धि और जैसा कुछ मैं ने सुनकर धारण किया है उसे आप लोगों को सिखाने के निमित्त नहीं अपनी वाणी को

सार्थक बनाने के निमित्त आप से कहता हूँ। आप सब सावधान होकर समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

श्रीनारायण बीज अमल अंकुर चतुरानन।
श्रीनारद तनुतना व्यास शाखा अति शोभन॥
श्रीशुक पावन पुष्प गंध है सरस सुबानी।
कृष्ण कथा फल मधुर भोकता मुनि विज्ञानी॥

नृपति परीक्षित शौनकहु, सेवें ऋषि मुनि सहित हैं।
वृक्ष भागवत भव्य अति, सब सुख जामें निहित हैं॥

विराट् पुरुष

(१०)

स वेद धातुः पदवीं परस्य
दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया सन्ततयानुवृत्त्या
भजेत तत् पादसरोजगन्धम् ॥१

(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ३८ श्लोक)

छप्पय

हैं अनन्त भगवन्त असन्त न उनको जानें।
प्राणी प्रेम विहीन कहो कैसे पहिचानें॥
पावन उनका चरित अमित मधुमय सुखदाई।
लीला ललित ललाम लखें जिन देहिं लखाई॥

छाँड़ि कपट छल प्रेम से, करहिं समर्पण कर्म सब।
नाम, रूप गुण, धाम को, समुझि सकें सतसार तब॥

बिना भगवान् के तथा उनके भक्तों के चरित्रों का श्रवण गान किये कोई इस भवसागर से पार नहीं जा सकता, यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है। भगवान् की अवतार कथायें मनुष्य के

---

१ उन दुरन्तवीर्य रथाङ्गपाणि भगवान् परात् पर विधाता के जन्म, कर्म आदि रहस्यो को—उनकी पदवी को – वही पुरुष जान सकता है,

हृदय को स्वच्छ, मल रहित बना देती हैं। उनमें भगवान् के विशद वीर्य का वर्णन होता है। उनकी जीवों पर कितनी करुणा है, कृपा के कारण कैसे-कैसे कठिन कार्य करते हैं, इन बातों का सर्वत्र समावेश रहता है। भक्तों के अधीन होकर वे सब कुछ कर सकते हैं, ये प्रसंग पुनः पुनः आते हैं। इनके श्रवण से अन्तःकरण में सुख होता है और विश्वास बढ़ने लगता है कि कृपासिन्धु की कृपा का एक आध विन्दु हमारे ऊपर भी कभी पड़ जायेगा। इसीलिये अवतार कथायें ही एक मात्र सदा श्रवणीय हैं। उन्हीं के वर्णन का नाम "भागवत" है। सूतजी के ऐसा बार-बार कहने पर सब ऋषियों की ओर से शौनक जी कहने लगे—"महानुभाव ! आपने अवतार कथाओं को तथा उन्हीं के सम्बन्ध से भक्तों की कथाओं को भागवत कहा है। अब हम अत्यंत संक्षेप में पहिले मुख्य-मुख्य अवतारों को सुनना चाहते हैं। उन अवतारों को सुनने के अनन्तर आप हमें उनकी दिव्यलीलाओं को विस्तार के साथ सुनावें।"

ऋषियों के ऐसे प्रश्न को सुनकर सूतजी कहने लगे—"हे ऋषियो ! आप धन्य हैं जो संसारी सभी विषयों से पराङ्मुख होकर इस परम पावन पुण्य भूमि में बैठ कर श्री कृष्ण कथा श्रवण करने में लगे हुए हैं। भगवान् के अवतारों की लीलाओं का प्रश्न करने वाला और कथन करने वाला दोनों ही धन्य हैं। इस जिह्वा की यही एक सबसे बड़ी सार्थकता है, कि यह कृष्ण कथा का कथन करे और श्रवणों की सर्वश्रेष्ठ सार्थकता

जो बिना छल कपट; माया प्रपंच के निरन्तर, अत्यंत प्रेम के सहित, उन्हीं के अनुकूल आचरण करता हुआ उनके पाद पद्मों की पवित्र गन्ध का श्रद्धा से सेवन करता है।

इसी में है कि वे सर्वाधार श्रीहरि की लीलाओं का श्रद्धा के साथ श्रवण करें। मैं आपसे मुख्य-मुख्य अवतारों का कथन करता हूँ। आप सब सावधानी के साथ श्रवण करें—

सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम श्रीहरि का पुरुषावतार हुआ। जिसकी वेदों में पुरुष सूक्त से स्तुति की है। यह अवतार सृष्टि की रचना के निमित्त हुआ। जीवों के शुभाशुभ भोगने के निमित्त उनके शरीरों की उत्पत्ति के लिए ही यह आदि अवतार हुआ। समस्त विश्व चराचर, देवता, नाना अवतारों की उत्पत्ति इसी से हुई है। अनन्त ऐश्वर्य की स्वामिनी श्रीजी का यही सर्व प्रथम इकलौता पुत्र हुआ। विश्व का बीज इसी पुरुषावतार में निहित है, जिसका वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता, जो इन्द्रियों से परे है, जहाँ प्रकृति, माया, अविद्या की गंध भी नहीं, जहाँ सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र, पंचभूतों के बिनाही कार्य्य चलता है। ऐसा एक लोक है। लोक कहना भी उपलक्षण मात्र है। वह उत्पत्ति विनाश, विकार, परिवर्तन, निरानंद से रहित है। वहाँ सर्वेश्वर अपनी परमाह्लादिनी शक्ति के सहित नित्य नई-नई लीलायें करते हैं। नई इसलिए कही जाती है क्योंकि प्रेम का स्वरूप ही नित्य नूतन होना है। वहाँ का प्रेम भी विलक्षण ही है, किन्तु करें क्या, हम वर्णन तो प्राकृत भाषा में कर रहे हैं, वहाँ कोई भाषा नहीं, एक ही प्रेम की भाषा है, वह वाणी से व्यक्त नहीं होती, इसीलिए विवश होकर हमें यहाँ के शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। हाँ तो 'वे' उन 'अपनी' की ओर निरंतर देखते रहते हैं। क्यों ? इसलिए कि उनका सौंदर्य्य क्षण-क्षण में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट दिखाई देता है। अब जो मन मोहकता सरसता दिव्यता थी क्षण भर में उससे भी श्रेष्ठ हो गई। यही दशा

उनकी है। अतः बिना पलक मारे अनादिकाल से युग-युग से वे एक दूसरे की ओर निहार रहे हैं, न दोनों की तृप्ति हुई है; न होगी। इस देखा देखी में ही कभी २ विलक्षण क्रीड़ा हो जाती है, उसी क्रीड़ा का विकार यह विश्व है। उसमें उनका कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं, संकल्प नहीं। यों ही खेल खेल में उत्पन्न हो जाता है। जैसे बच्चे खेल खेल में बीज बो देते हैं। खेल कर अपने घर चले जाते हैं, दूसरे दिन उन्हें याद भी नहीं रहती, हमने यहाँ बीज बोया था। दूसरे दिन दूसरे स्थान पर खेल रचते हैं। खेल में डाला हुआ वह बीज जल का संयोग पाकर वृक्ष हो जाता है, फूलने फलने लगता है। बच्चों को याद भी नहीं रहती यह हमारे ही डाले बीज से इतना बड़ा वृक्ष हो गया। उनका उद्देश बीज बोकर वृक्ष पैदा करना नहीं था। वह तो संयोगवश खेल में पड़ गया। उत्पन्न हो गया। यही दशा इस अनादि अनन्त विश्व ब्रह्मांड की है। यह भी खेल-खेल में निर्मित हो गया।

मधुर तो मधुर ही है, फिर भी रुचि बदलने को बीच-बीच में चटनी चखने से स्वाद बढ़ जाता है। मान से प्रेम निखर जाता है। पतझड़ हो जाने से फिर नये-नये कोपल निकल आते हैं। यह पतन नहीं नूतनता का नियम है। विषयान्तर होने से पुनः प्रियप्रकृत विषय पर आने से उसमें अभिरुचि बढ़ती है। यह सब सोच-समझ कर नहीं किया जाता, यह स्वभाव है। पीछे दार्शनिक विचार के पुरुष एक सिद्धान्त में आवद्ध करके उसकी प्रक्रिया बनाते हैं।

श्री अनादिकाल से चली आती हुई लीला के प्रसंग में किसी समय श्रीजी ने कहा—"इतने दिन हमें क्रीड़ा करते हुए हो गये। किन्तु हमारे कोई पुत्र नहीं हुआ। हम चाहती हैं, एक पुत्र होता तो उत्तम था।"

वे बोले—"तुम यह सब झंझट जाने दो। तीसरे के बीच में आने से प्रेम बँट जाता है। बस, प्रेम में तो प्रेमी और प्रेम पात्र दो ही चाहिए।"

किन्तु जो संकल्प उठा वह पूरा होना चाहिए। अमोघ संकल्प ही तो प्रेम मार्ग की भित्ति है। ज्यों-ज्यों उन्होंने मना किया वे त्यों ही त्यों अड़ती गईं। परिणाम स्वरूप एक प्रिय पुत्र उत्पन्न हुआ। वे उसका बड़ी सावधानी से, बड़े स्नेह से, समस्त मोह ममता बटोर कर लालन-पालन करने लगी। बात वही हुई, जिसकी आशंका थी, स्नेह बँट गया। एक में दो साझीदार होगए। अद्वैत में द्वैत ने पदार्पण किया। यद्यपि वह द्वैत एकत्व से भी विशिष्ट था, द्वैत होता हुआ भी अद्वैत था, फिर भी माया पति और श्रीपति में उपाधि से ही सही कुछ भेद अवश्य था। दूध और पानी जो मिल गये हैं, अब पृथक होने चाहिए, क्षण भर में ऐसा संकल्प उनके मन में उठा। काल तो वहाँ था नहीं, जो समय की गणना करके बता दें कि यह लीला कितनी देर में हुई, किन्तु यह एक जल में क्षणिक लहर के समान उठी और उसी में यह सब लीला हो गई।

बच्चे ने मा की गोद में प्यार पाया। वह अपने पन को भूल गया। उसे आलस्य आया। क्यों जी? वहाँ आलस्य कैसे घुस गया? बस, अब तुम यह प्रश्न मत करो। जैसे यह क्षणिक संकल्प आ गया वैसे ही वह आलस्य भी था। बच्चे को जम्हाई आई। माता ने उसका अनिष्ट दूर हो, इसलिये चुटकी बजाई। बच्चे ने मुँह फाड़ा तो उसके मुँह में भी अद्भुत-अद्भुत चीजें दिखाई देने लगी। हजारों सिर, हजारों

हाथ, असंख्यो आखें, कान, नाक, मुँह, उदर, स्त्री, पुरुष, पेड़, पत्ती, पहाड़; नदी, वन, घोड़ा, हाथी, ऊँट, नगर, शहर, हजार मुख के सौमुख के, चार मुख के अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, यक्ष, किन्नर, गंधर्व तृण से लेकर सुमेरू तक चींटी, से ब्रह्मा तक सभी उस मुख में माता को दिखाई देने लगे। मूर्तिमान महत्तत्व, अहंकार, शब्द, रूप, रस, गन्धस्पर्श, मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय सभी उसमें विद्यमान थे। किरीट मुकुटों से सुशोभित सहस्रों सिर कानों में जगमगाते कुण्डल पहिने दिखाई देते थे। सम्पूर्ण चराचर जगत् असंख्यों ब्रह्माण्ड उसमें समुद्र में मछलियों के समान घूम रहे थे।

कहाँ प्रेम की उपासना, कहाँ इस जग जंजाल का दर्शन, वे बड़ी खिन्न हुईं। छिः छिः कैसा घिनौना पुत्र हुआ। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं।

"कहाँ रखूँ इसे ? अब तुम्ही बता दो !" वे बोलीं।

"मैं क्या बताऊँ जान बूझ कर तुमने यह सूआ पाल लिया ! कोई बात नहीं। इसे महानार (जल) में रख दो। वही इसका अयन हो।" यही उनका सरल उत्तर था।

"ऐसा ही हो !" उन्होंने इतना ही कहा।

अब तक जो स्नेहमयी क्रोड में क्रीड़ा कर रहा था, अब तक जिसका 'आयन' अंक थी। क्षण भर में ही वह योग निद्रा के वशीभूत होकर सलिल में शयन करने लगा। सद्यः जात शिशु था, अभी तक नाभि का नाल भी छेदन नहीं हुआ था। भाग्य का खेल उसे सलिल की शैया मिली। जल के संयोग से वह नाभि नाल हरा-भरा हो गया। उसमें देखते-देखते कमल लग गया। उसमें से एक चार

मुँह वाले देवता हुए। क्षण भर में वह कमल पृथक् हो गया। उसी समय दूसरा कमल लग गया। उसमें भी १०० मुख का एक देवता था। उसने भी सृष्टि बनानी आरम्भ कर दी। वह सलिलशायी शिशु जब साँस लेता तो ब्रह्मांड भीतर आ जाते और उस नाल से निरंतर ब्रह्मांडों की उत्पत्ति होती रहती। उसे न संकल्प करना पड़ता, न कुछ प्रयास ही। अपने आप असंख्यों ब्रह्मांड उत्पन्न होते और उसी में विलीन होते। सभी ब्रह्मांडों के पृथक् पृथक् ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवता, मनु, प्रजापति, राजा, ऋषि, चराचर जीव पृथक्-पृथक् होते। उसे ब्रह्मांड उत्पत्ति का यन्त्र समझना चाहिये। उसे पता नहीं कितने ब्रह्मांड उत्पन्न हुए, कितने विलीन हुए, उसके रोम-रोम में असंख्यों ब्रह्मांड छिपे हुए थे। फिर भी वे फैल फूट कर पड़े थे, आपस में धक्का-मुक्की नहीं हो रही थी। योग निद्रा में नेत्र बन्द किये वह सुषुप्ति सुख का अस्वादन कर रहा था। उसकी विश्वसृजन करने वाली महामाया शक्ति स्वतः ही उसकी चरण सेवा कर रही थी। उसे किसी ने न तो यह सिखाया था, न किसी ने मन्त्र पढ़ कर उसके साथ उसका पाणिग्रहण कराया था। वह उसके साथ ही उत्पन्न हुई और बिना सिखाये पढ़ाये ही सेवा में जुट गई।

यही आदि अवतार सभी अवतारों का मूल कारण है। सभी अवतार इसी से उत्पन्न होते हैं। उसके किसी एक अंश से ये देवता, ऋषि आदि उत्पन्न होजाते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। यह अवतार सृष्टि के निमित्त सब से आदि में हुआ है, इसलिये इसे 'आदि' अवतार कहते हैं। सलिल में शयन करने से, नारा में निवास करने से, इसे नारायण भी कहते हैं। शरीर रूपी पुरी में शयन करता है, इसीलिये इसे

'पुरुष' भी कहते हैं और विश्व ब्रह्मांड में सब से विशेष इसकी शोभा है, इसलिये इसे विराट् भी कहते हैं। वेदों में इन्हीं विराट् पुरुष की भाँति-भाँति से स्तुति की गई है। अतः हम इस विराट् पुरुष के पादपद्मों में श्रद्धा भक्ति के सहित प्रणाम करते हैं।

छप्पय

ये अगणित ब्रह्मांड लीन रहते हैं जिनमें।
जड़, चेतन, चर, अचर सृष्टि सृजते हैं छिनमें॥
निहित तत्य चौबीस आदि अवतार कहाते।
इनसे हों उत्पन्न इन्हीं में फिर मिल जाते॥

अज अनादि अव्यक्त प्रभु, अमित ज्ञान विज्ञान हैं।
नारायण अव्यय पुरुष, वे विराट् भगवान हैं॥

—: ❀ :—

प्रथमावतार

(११)

स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य्यमखंडितम् ॥१

(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ६ श्लोक)

छप्पय

दिव्य, दिगम्बर फिरें, सभी सम जग में जिनको।
पाँच वर्ष के सदा, जरा व्यापे नहिं तिनको॥
राग द्वेष ते दूरि, ऊर्ध्व रेता व्रत धारी।
अव्याहत गति रहें सकल जीवनि हितकारी॥

सनक, सनंदन, सनातन, सनत् कुमार कुमार वर।
मन तिन पद पंकजनि की, रज श्रद्धासे धारि सिर॥

ऐसा नियम है, जिस वस्तु को हम कुछ भी महत्व नहीं देते, जो हमारी दृष्टि में नगण्य उपेक्षित है, उसी के लिये हमारी परम्परा में पैदा हुए पुरुष—हमारे उत्तराधिकारी लड़ते भिड़ते हैं, व्याकुल होते हैं। इन नाशवान वस्तुओं में कोई महत्व की वस्तु नहीं।

---

१ उन्हीं भगवान् ने प्रथम सनकादि कुमारों के सर्ग में स्थित होकर ब्राह्मणवेष बनाकर अखण्ड ब्रह्मचर्य्य वाले दुष्कर व्रत का पालन किया।

हम अपने महत्व के कारण, अपनी वासनाओं की पूर्ति के निमित्त, अपने श्रम को अपना समझ कर, उसकी फल प्राप्ति का अधिकार समझ कर वस्तुओं के लिये व्यग्र रहते हैं। उनमें निजत्व का अभिनिवेश करते हैं, और उनकी प्राप्ति में बाधा होने पर क्रोध करते हैं, अपने कंटकों को नष्ट करने को उद्यत होते हैं। यही संसार है। कर्म ही बन्धन का हेतु है। असत् में सत् बुद्धि रख कर उसे पाने तथा अपनाने का नाम ही माया, अविद्या है। इस माया से ही जगत् संभव है। यह अनर्थ कारिणी माया बीच में न पड़े तब तो संसार कुछ है ही नहीं। सब खेल ही खेल है। सब सुखी रहें, किसी को कोई चिन्ता ही न रहे। सब आनंद से खेलें, कूदें, नाचें, गावें, मौज उड़ावें। किन्तु इस अपनेपन के कर्मों ने सब गुड़ गोबर बना दिया। समस्त आनंद को निरानंद में परिणित कर दिया।

विराट् पुरुष का प्रादुर्भाव किसी संकल्प से नहीं, खेल-खेल में ही हुआ। विराट् पुरुष का नाल भी जल में अपने आप हरा हो गया। उसमें प्रयास, प्रयत्न, संकल्प कुछ नहीं था। अब तक तो यह खेल ही रहा। इसमें करने कराने का, अपने पराये का आरोप नहीं हुआ था। अब ये जो कमल से देवता पैदा हुए इनकी देखने की इच्छा हुई। क्यों हुई? क्योंकि इनके हृदय में संकल्प घुस गया। कैसे घुस गया? अब हर बात में कैसे-कैसे मत करो। ऐसे कैसे-कैसे करते रहोगे तो कहीं कैसे का अंत ही नहीं। "उन प्रभु की इच्छा से ही देवता के मन में देखने की इच्छा हुई। इसी को मान कर आगे गाड़ी चल सकती है। हाँ, तो देखने की इच्छा होते ही चारों ओर चार मुख हो गये। उनमें इन्द्रियों ने आकर प्रवेश किया। चतुर्मुख देवता देखने लगे। अब उनकी इच्छा बढ़ाने की हुई। क्योंकि उत्पन्न हुआ

मनुष्य बढ़ता है और जिस विषय में उसकी प्रवृत्ति है उसे बढ़ाने की स्वाभाविक इच्छा होती है।

अब तक किसी के मन में कोई विकार तो था ही नहीं। सभी काम विहीन ब्रह्मचारी थे, अमोघ संकल्प थे। सब कार्य संकल्प से ही हुआ। इसमें वाह्य उपकरणों की, किन्हीं विशेष उपादानों की आवश्यकता नहीं थी। चतुर्मुख के संकल्प होते ही चार सुकुमार सदा प्रसन्न, मोह ममता से रहित, विशुद्ध ब्रह्मचारी हुए। इन्हीं का नाम असल में अवतार हुआ। कुछ तो इनमें माया का अंश था ही नहीं, तो शरीर ही कैसे बनता, किन्तु कोई विशेष विकार नहीं थे। इनके सुन्दर स्वरूप को देखकर ब्रह्मदेव मुग्ध हो गये। ब्रह्मा जी के संकल्प से हुए इसलिये व्यवहार में इन्हें ब्रह्मपुत्र कहते हैं। वास्तव में तो ये किसी के पुत्र हैं ही नहीं। साक्षात् नारायण ही हैं, किन्तु सृष्टि के संकल्प के समय में उत्पन्न हुए इसलिये ये प्रथम ऋषि कहलाये। वास्तव में तो ये पूर्वजों के पूर्वज हैं। ब्रह्माजी से भी प्राचीन हैं, भगवत् स्वरूप ही हैं।

ब्रह्मा जी तो अपनी धुनि में थें, उन्हें तो सृष्टि बढ़ाने की चटपटी लगी हुई थी। बड़े प्यार से सम्पूर्ण स्नेह को बटोर कर मधुर वाणी से बोले—"पुत्रो! तुम बड़े सुंदर हो, कैसा तुम्हारा मनोहर रूप है। जी चाहता है तुम्हें देखते ही रहें, किन्तु ऐसे कैसे काम चलेगा। मेरे संकल्प में सहयोग करो।"

चारों कुमारों ने कहा—"आज्ञा कीजिये, क्या करें?" प्रसन्न होकर चतुरानन बोले—"बस, यही करो कि जैसे तुम हो वैसे ही बहुत से बना डालो। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भर दो। हमारा परिवार खूब बढ़े। सभी को हँसते खेलते देखें। यही मेरा मनोरथ है।"

चारों बड़े जोर से हँस पड़े और बोले—"देव ! आपको यह क्या सूझी है ? इससे क्या होगा ?"

ब्रह्मा जी बोले—"अरे, होगा क्या ? लोग अपने-अपने कर्मों को भोगेंगे, धर्म करेंगे, यज्ञानुष्ठान करेंगे, स्वर्ग पावेंगे। मोक्ष का साधन करेंगे।"

कुमारों ने पूछा—"जो धर्म न करें, अधर्म करें उनकी क्या दशा होगी ?"

ब्रह्मा जी ने कहा—"अधर्म से पाप होगा। पाप से दुःख की प्राप्ति होगी, नरक जायंगे, नाना यातनाओं को भोगेंगे।"

कुमारों ने कहा—"जो धर्म अधर्म दोनों से बच कर निरंतर भगवत् ध्यान में ही मग्न रहें, उनकी क्या दशा होगी ?"

ब्रह्मा जी ने शीघ्रता से कहा—"अरे, इस विषय में क्या पूछना, वे तो साक्षात् जीवन मुक्त ही बने बनाए हैं।"

कुमारों ने कहा—"तब हमें आप इस सृष्टि के चक्कर में क्यों डालते हैं ? कीच लगाकर फिर उसे जल से धोना, इससे तो श्रेष्ठ यही है कि कीच से दूर ही रहे। अतः हमें यह झंझट रुचिकर नहीं है।"

ब्रह्माजी ने आश्चर्य के साथ कहा—"अरे, भैया, यह तुम कैसी बात कर रहे हो ? ऐसा ही सब सोच लें तो फिर यह सनातन सृष्टि क्रम कैसे चलेगा ?"

कुमारों ने हँस कर कहा—"मान लो, न चले तो इसमें हमारी हानि ही क्या ? अच्छा है न चले, लोग नाना प्रकार की आधि व्याधि से बचे रहेंगे। दुःख, शोक. चिन्ता, श्रम, ग्लानि से दूर रहेंगे।"

ब्रह्माजी ने कहा—"हमने जो सृष्टि के लिए इतना श्रम किया है, वह व्यर्थ ही जायगा ?"

कुमारों ने कहा—"आपने क्या श्रम किया है ? अभी तो सिवाय संकल्प के कुछ भी नहीं है। संकल्प को समाप्त कीजिए। सृष्टि विलीन हो जायगी।"

ब्रह्माजी ने कहा—"इतना जो तप किया है, उसी तप के प्रभाव से तो तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है।"

कुमारों ने कहा—"अच्छी बात है, तब तपस्या हम सब भी करेंगे। तप रूप श्रीहरि की निरंतर आराधना करेंगे।"

ब्रह्माजी ने झुंझला कर कहा—"केवल तप से ही काम थोड़े चलेगा। सृष्टि की वृद्धि के लिए भी कुछ श्रम करना पड़ेगा।"

ब्रह्माजी ने अधिकार के स्वर में कहा—"क्यों नहीं होगा जी ! हम तुम्हारे पिता जो हैं, हमारी आज्ञा का उल्लंघन करोगे ?"

कुमारों ने सरलता के साथ कहा—"इसमें आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। यह तो सबसे श्रेष्ठ—सर्वोपरि कर्तव्य है। सर्वात्म भावसे इसमें लगे हुए पुरुष को फिर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, न उसके लिए इससे बढ़ कर कोई वस्तु है।"

बस, यह उपदेश ही सृष्टि का मूल कारण हुआ। कुमार शुद्ध सत्वप्रधान थे। ब्रह्माजी रजोगुण के वशीभूत होकर बातें कर रहे थे। यदि उस समय ब्रह्माजी विशुद्ध सत्व का आश्रय लेकर कुमारों की बात मान लेते तो सृष्टि वहीं समाप्त हो जाती। संकल्प आगे न बढ़ता। संकल्पों के बढ़ने से ही सृष्टि का विस्तार होता है। अपनी आज्ञा का उल्लंघन हुआ समझ कर ब्रह्माजी का रजोगुण और अधिक बढ़ गया। अपनी अभीष्ट कामना की पूर्ति न होने से कामना ने उसी समय

क्रोधरूपी पुत्र को उत्पन्न कर दिया। वही क्रोध रुद्र रूप धारण करके निकल पड़ा। उसने ब्रह्माजी की आज्ञा का किस रूप से पालन किया इसका विशेष विवरण सृष्टि के प्रसंग में आवेगा।

जब तक प्रतिद्वन्दी उत्पन्न नहीं होता तब तक उस वस्तु की विशेष बृद्धि नहीं होती। न उन दोनों को संयम में रख कर चलाने वाली वस्तु तीसरी वस्तु की ही सृष्टि होती है। आवश्यकताही आविष्कार की जननी है। सृष्टि के संकल्प से ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई। उन्होंने उसे रचा भी, किन्तु वह बढ़े कैसे। उसका प्रतिद्वन्दी भी तो हो। अतः सृष्टि को संहार करने की शक्ति वाले रुद्र उत्पन्न हुए। उन्होंने संहारक शक्ति की बृद्धि में परम पुरुषार्थ प्रकट किया। अब ब्रह्मा जी घबड़ाये, अब उन्हें उसकी वृद्धि और फिर रक्षा की चिन्ता हुई, अब केवल संकल्प से काम न चलेगा। अब तो खुल कर मैदान में आना पड़ेगा। अपने प्रबल पैंतरे दिखाने होंने। सम्पूर्ण शक्ति लगाकर जैसे हो तैसे इसे बढ़ाना होगा। रजोगुण अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। यह सतोगुण ही बीच में गड़बड़ी डाल रहा है, यही सृष्टि को बढ़ने नहीं देता। ऐसा संकल्प होते ही मोह महामोह आदि उत्पन्न हुए। उन्होंने सत्व को ढक लिया। सत्व के ढक जाने पर ब्रह्माजी को आवेश आ गया। वे सोचने लगे—ऐसे अनुनय विनय करने से सृष्टि कब तक बढ़ेगी? किस-किस को मनाते समझाते रहेंगे। कोई ऐसी मोहक वस्तु हो जिसके देखते ही लोग स्वयं सृष्टि में प्रवृत्त हो जायँ। बस, संकल्प करते ही ब्रह्मा जी के दो भाग हो गये। अब तक तो वे संकल्प से ही द्वैत की सृष्टि में प्रवृत्त थे। अब वे स्वतः ही कर्म से, शरीर से दो हो गये। दोनों एक से थे, एक शरीर के दो अंग ही ठहरे, किन्तु संकल्प दो थे, मोहक बनाने का और सृष्टि बढ़ाने का। अतः इन

दोनों भागों के दो पृथक्-पृथक् लिंग हुए। सृष्टि सृजन के संकल्प से जो भाग हुआ वह पुल्लिङ्ग कहाया और मोहक संकल्प से जो हुआ वह स्त्री लिंग के नाम से विख्यात हुआ। उसके प्रत्येक अंग में मोहकता थी, शत-शत रूपों से वह मन को अपनी ओर

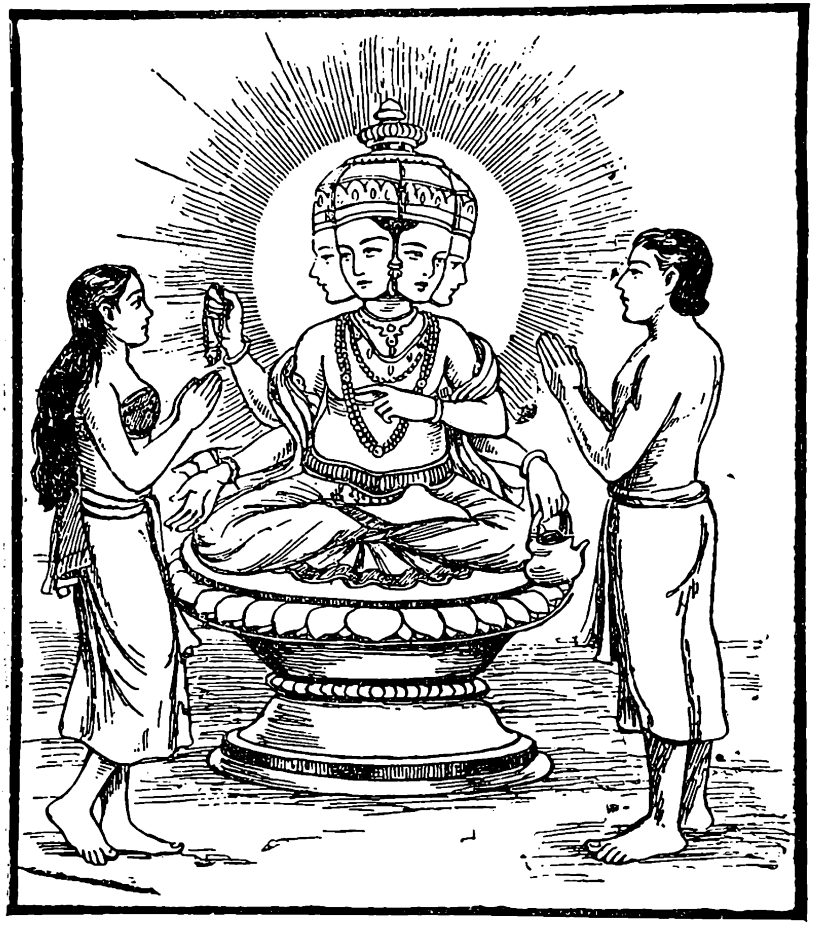

आकर्षित कर रही थी। अतः ब्रह्मा जी ने उस भाग का नाम शतरूपा रखा और जो दूसरा पुल्लिङ्ग विभाग था वह मनु के

नाम से विख्यात हुआ। यही सृष्टि में सबसे आदि स्त्री पुरुष हुए। इनसे ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति और वृद्धि हुई।

कैसी लीला है भगवान् की ? एक ही अंग से दो, एक से पैदा हुए। संकल्प के कारण एक दूसरे से मिलने को व्यग्र हो उठे। मनुदेव उस शतरूपा पर मन ही मन लट्टू हो रहे थे और शतरूपा भी उन्हें पाने के लिये व्यग्र बनी हुई थी। ब्रह्मा जी दोनों के मनोभावों को ताड़ गये और अपने संकल्प की अनुकूल सिद्धि पर मन ही प्रसन्न हो रहे थे। हाथ जोड़े हुए मनु ने अपने पिता से पूछा—"देव! मेरे लिये क्या आज्ञा होती है, मैं क्या करूँ ?"

ब्रह्मा जी ने कहा—"अच्छा, तुम एक काम करो। इसे अपनी बहू बना लो।"

मनु जी के मन में जो संकल्प था, शतरूपा जो चाहती थी, उसी को ब्रह्माजी के मुख से सुन कर दोनों के हृदय में गुद-गुदी सी होने लगी। दोनों के हृदय कमल की मुँदी हुई कलियाँ खिल उठीं। अपनी प्रसन्नता को दबाते हुए मनु जी ने कहा – "पिता की आज्ञा तो बिना विचार के मान्य होती है। जैसी आपकी आज्ञा होगी वैसा ही हम करेंगे।"

ब्रह्माजी ने कहा—"तुम बड़े अच्छे हो। अपने पूर्वजों—कुमारों का तुमने अनुकरण नहीं किया।"

मनु बोले—"फिर हमें क्या करना होगा ?"

प्रसन्नता से ब्रह्मा जी बोले—"फिर दोनों अपने अनुरूप बहुत सी सन्तान को बनाना। यह सृष्टि क्रम बहुत बढ़े, ऐसा उद्योग करना।"

विराट् पुरुष की नाभि से जो कमल हुआ था, उसके सात भाग हो गये थे। ऊपर के ४ भागों (मह, जन, तप और सत्य लोक) में तो संकल्पी सृष्टि के उत्पन्न हुए ऋषि भरे थे, किन्तु मूल तो है पृथ्वी। पृथ्वी में उत्पन्न होकर कर्म न करेंगे, अन्य लोकों में न जायँगे तब तक सृष्टि क्रम की वृद्धि कैसे होगी? इतना सब कार्य सत्य लोक में बैठे-बैठे ही ब्रह्मा जी ने किया। यह मैथुनी सृष्टि तो ऊपर के लोकों में हो नहीं सकती। यही सब सोच समझ कर आदि पुरुष मनु ने पूछा—"हम लोग कहाँ रहें, कहाँ सृष्टि की वृद्धि करें?"

ब्रह्माजी ने हर्ष के सहित कहा—"तुम लोग पृथ्वी पर जाओ। वहीं अपना अधिकार जमाओ, वहीं सृष्टि बढ़ाओ, घर द्वार, राज परिवार बनाओ, नाना भाँति के अन्न, रस, फल खाओ। यज्ञादि करो कराओ और मौज उड़ाओ।"

"जैसी आज्ञा!" कह कर मनुजी ने भगवान् पितामह के पैर पकड़े। शतरूपा ने भी सिर से प्रणाम किया। पितामह ने आशीर्वाद दिया—"जाओ, तुम दोनों की जोड़ी फले फूले। बहुत बेटा, बेटी, नाती, पोता, पोती हों और मेरी ही तरह तुम भी अपनी संतानों से पूजित हो।"

दोनों का हृदय आनन्द से भर रहा था। लज्जा, संकोच के कारण कुछ भी न बोले। फिर ब्रह्माजी उपदेश करने लगे—"देखो, तुम्हारे अग्रज कुमारों ने मेरी बात नहीं मानी। उन्होंने तप में ही अपना चित्त लगाया। तप भी करना चाहिये, किन्तु सृष्टि को बढ़ाना, सन्तान पैदा करना यह भी बड़ा पुण्यप्रद कार्य्य है। इससे बड़ा यश होता है। सुख समृद्धि की प्राप्ति होती है और पितरों की प्रसन्नता होती है।"

दोनों ने सिर झुका कर ब्रह्माजी का उपदेश सुना। ब्रह्माजी सन्तानोत्पत्ति को पुण्यप्रद कार्य्य बता रहे हैं, यह तो ठीक ही है। किन्तु वे दोनों तो परस्पर स्वयं ही सृष्टि वृद्धि के लिये उत्सुक थे;

उन दोनों की उत्पत्ति से ब्रह्माजी को सन्तोष हुआ और वे आगे की बात सोचने लगे।

छप्पय

सनकादिक ने सृष्टि कार्य में योग न दीन्हों।
कह्यो कर्‌यो न कुमार, कोप कमलासन कीन्हों॥
मनु सतरूपा भये देह तें दो नर नारी।
उनने श्रद्धा सहित सीख सब सिर पै धारी॥

आयसु पाकर पिताकी, दोनों दुलहिन दुल्हा मिलि।
सृष्टि रची सुख से गईं, हृदय कमल की कली खिलि॥

अन्यावतार

(१२)

स वा इदं विश्वममोघलीलः
सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतन्त्रः
षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेशः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ३ अ० ३६ श्लोक)

छप्पय

हैं मनमौजी नाथ सूत्रधर विश्वविहारी ।
नये-नये नित स्वांग रचे लीला विस्तारी ॥
एक रूप तें रचें एक तें पालन करते ।
जग-संहारन हेतु नेत्र त्रय धारन करते ॥

कच्छ मच्छ वाराह वपु, धरि के धरनी धारते ।
धर्म धेनु द्विज पालते, दैत्य दुष्ट संहारते ॥

एक ही भगवान् सृष्टि तन्त्र को चलाने की सुविधा के निमित्त अपनी शक्ति को ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीन रूपों में विभक्त कर लेते हैं । तत्वतः इनमें कोई भेद नहीं । वे ही

---

१ वे अमोघ लीलाधारी श्री हरि इस अखिल विश्व ब्रह्माण्ड को रचते हैं, पालन करते हैं और अन्त में संहार भी कर लेते हैं; किन्तु

प्रभु जब सृष्टि करने लगते हैं तो ब्रह्मा कहलाते हैं। पालते समय विष्णु बन जाते हैं, संहारते समय शिव हो जाते हैं। अपने कार्यों के लिए ये ही देव जब विशेष-विशेष अवसरों पर विशिष्ट रूप रखते हैं तब ये ही अवतार कहलाते हैं। सामान्य तथा जितने मनु आदि प्रजापति हैं, सभी सृष्टि बढ़ाने के निमित्त ब्रह्माजी के अवतार हैं। इन्द्र, देवता, ऋषि, मनुष्य, मनुपुत्र और आदि रूपों से सृष्टि का पालन करते हैं। अतः ये सब विष्णु के अवतार हैं तथा मन, काल आदि संहार करने वाले सब रुद्र के अवतार हैं। फिर भी भगवान् भक्तों के निमित्त और भी अनेक रूप धारण करते हैं, अतः वे सब विष्णु भगवान् के अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार आदि नामों से विख्यात हैं। जैसे जीव अनंत हैं, ब्रह्मांड अनंत हैं, वैसे ही अवतार भी हैं, फिर भी यहाँ कुछ अवतारों का वर्णन किया जाता है।"

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी, आपने विराट् पुरुष का तथा प्रथम अवतार श्री सनकादि कुमारों का वर्णन किया, अब आगे अनंतवीर्य भगवान् के अन्य जो मुख्य-मुख्य प्रसिद्ध अवतार हैं, उनके नाम बताइये।"

अवतारों के सम्बन्ध में ऋषियों की उत्सुकता देख कर सूत जी कहने लगे—"ऋषियो! अवतार कथा ही तो संसार में

स्वय उसमें तनिक भी आसक्त नहीं होते। वे अपने आप में ही स्वाधीनता से स्थिर रहने वाले आत्म तन्त्र भगवान् सब प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर ज्ञानेन्द्रिय और मन के जो ६ विषय हैं उनका अनासक्त भाव से भोग करते हैं, क्योंकि वे उन सबके नियन्ता हैं।

में एकमात्र श्रवण करने योग्य कथा है और सब तो जंजाल है। ये कुमार तो निवृत्त मार्ग के प्रदर्शक आदि अवतार हुए। इससे यह सिद्ध हुआ कि संसार में ब्रह्मचर्य्य ही सार है। जो इस बृहद् व्रत का पालन न कर सकें, वे प्रथम धर्म का आचरण करते हुए तब इधर बढ़ें। सब अवतारों का कारण धर्म का संस्थापन ही है।

ब्रह्माजी ने जब प्रजापति मनु को पृथ्वी पर जाकर सृष्टि करने की आज्ञा दी तो उन्होंने ध्यान लगा कर देखा तो पता चला कि सृष्टि की जो अधिष्ठात्री देवी है, उसे तो असुर पाताल में ले गये। ब्रह्माजी तो पैदा करना ही जानते हैं, रक्षा के लिये उन्हें विष्णु की शरण में जाना पड़ता है। अतः पृथ्वी की रक्षा के लिये वे मन से श्रीहरि की शरण गये। सहसा पृथ्वी की रक्षा करने के हेतु भगवान् ने सूकर रूप धारण किया और पाताल से पृथ्वी का उद्धार करके उसे जल पर स्थापित किया।

बन्धन के कारण कर्म ही हैं। नैष्कर्म्य की प्राप्ति अकाम होने से होगी। मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये ठहर नहीं सकता। फिर कैसे काम चले? तो क्या ये मर्त्यलोक के प्राणी इसी तरह अनन्त काल तक पिसते रहेंगे? इनकी निष्कृति का कोई उपाय नहीं होगा? पृथ्वी पर कोई बिना कर्म किये ठहर ही नहीं सकता। क्या कोई ऐसे कर्म नहीं जिन्हें करते हुए बन्धन बढ़ने की अपेक्षा कटता जाय, जिनके करने से संसार का आवागमन छूट जाय? इस काम को सिवाय भगवान् के अवतार के कौन कर सकता है? अतः देवर्षि शरीर का आश्रय लेकर श्रीहरि ने नारद रूप से अवतीर्ण होकर पंचरात्र भक्तिशास्त्र का प्रचार, प्रसार और प्रवचन किया। जिसके अनुसार किये हुए कर्म बन्धन के कारण न होकर संसार से

मुक्त करने के कारण होते हैं। उनके द्वारा भगवद् भक्ति की प्राप्ति होती है।

संसार में कामदेव को विश्व विजयी कहा गया है। देवता, ऋषि, गन्धर्व कोई इससे नहीं बच सका। सभी को इसने पछाड़ दिया। शिवजी ने भस्म किया तो सही; किन्तु काम विजय करके भस्म नहीं किया। क्रोध के द्वारा उसे अशरीरी भर कर दिया; किन्तु बिना क्रोध किये भी निरंतर तपस्या में ही लगे रहने से यह प्रबल पराक्रमी शत्रु भी जीता जा सकता है। इसी आदर्श को संसार के सामने रखने के लिये भगवान ने धर्म की पत्नी मूर्ति के गर्भ से नर और नारायण दो रूपों से अवतार धारण करके, मन और इन्द्रियों के निग्रह का मार्ग बताया तथा कठिन तपस्या करते हुए काम पर विजय प्राप्ति की।

इस विश्व ब्रह्मांड में सब कितने तत्व हैं, इनकी संख्या कौन कह सकता है? इसी निमित्त कपिल रूप से भगवान् ने अवतार लेकर लुप्त हुए सांख्यशास्त्र का प्रचार किया। आसुरी नामक ऋषि को उपदेश करके उनके द्वारा उसका प्रचार प्रसार किया। वह कृतयुगावतार हैं। प्रत्येक सतयुग में अवतीर्ण होकर ज्ञान का प्रसार करते हैं।

भगवान् अपने भक्तों पर कितनी कृपा रखते हैं, वे अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिये क्या-क्या नहीं दे देते हैं, इसी बात को सिद्ध करने के लिये परम अवधूत रूप में भगवान् ने महर्षि अत्रि की पत्नी अनुसूया के गर्भ से उत्पन्न होकर प्रह्लाद अलर्क आदि को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। सहस्रार्जुन को विद्या और वरदान दिये। ये भगवान् तपस्विनी अनसूया के ही तप से उनके वर मांगने पर प्रकट हुए।

ऋषियों ने पूछा—"सूत जी ! अनसूया ने क्यों वर माँगा ? भगवान् ने क्यों उनके यहाँ अवतार ग्रहण किया ? इस कथा को विस्तार के सहित हमें सुनाइये।"

ऋषियों के प्रश्न पर सूत जी बोले—"महाभागो ! इस समय मैं अवतारों का चरित नहीं बता रहा हूँ। यह तो मैं कुछ प्रसिद्ध अवतारों की तालिका दे रहा हूँ। सभी अवतारों के, चरित्र का तो आगे वर्णन किया जायगा। अवतार कथा को ही तो भगवान् कहते हैं। मैं आगे इन सब अवतारों के चरित्रों को विस्तार के साथ कहूँगा। इस समय तो आप संक्षेप में इनकी सूची मात्र श्रवण करें।

हाँ, तो स्वायंभुव मन्वतर में भगवान् 'यज्ञ' नाम से प्रकट हुए। रुचि प्रजापति की पत्नी आकूति के उदर से अवतीर्ण होकर आपने मनुपद पर प्रतिष्ठित होकर पूरे मन्वन्तर पर्यन्त त्रिलोकी का पालन किया।

जब लोग गृहस्थ धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझ कर उसी में आसक्त हो गये और परमहंस मार्ग की ओर से लोगों की रुचि कम हो गई, तब स्वयं श्रीहरि 'ऋषभ' रूप से अवनि पर अवतरित हुए। उन्होंने दिगम्बर रह कर जीवन्मुक्ति दशा को सब के सम्मुख दर्शाया और प्राचीन परमहंस मार्ग की प्रतिष्ठा की। यह अवतार अज्ञजनों को भ्रम में डालने वाला तथा विज्ञ जनों को मोक्ष मार्ग बताने वाला हुआ।

बेन के अधर्म आचरणों से ऊब कर पृथ्वी ने समस्त बीज अपने आप में छिपा लिये। संसार भूख से दुखी होने लगा। उस समय सृष्टि का आरंभ ही था। न तो पुरों की कल्पना थी न गाँवों की। पृथ्वी भी ऊबड़ खाबड़ समविषम थी। तब

भगवान ने पृथु रूप धारण करके पृथ्वी को अपने पराक्रम से सम बनाया। उससे अन्न औषधियों को दुह कर प्रजा का पालन किया। पृथ्वी उर्वरा हो गई। नरनाथ पृथु की पुत्री होने से ही यह धरा पृथ्वी कहाई। इन्होंने ही पृथ्वी पर ग्राम, मंडल, नगरों की कल्पना की।

जब वेदों को असुर हर ले गये और आगामी मन्वन्तर के भावी मनुवैवस्वत तथा समस्त बीज और महर्षियों के आश्रय का कोई स्थान न रह गया तब भगवान् ने लोक निंदित मछली का रूप धारण किया; जिसे बहुत से लोग 'जल तुरई' कहकर भक्षण कर जाते हैं। उसी जलचर जीव का रूप धारण करके श्री हरि ने सप्तर्षियों और मनु को प्रलय की बाढ़ से बचाया। असुर को मार कर वेदों का उद्धार किया। यही भगवान् का अवतार 'मत्स्यावतार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक बार देवताओं की 'श्री' समुद्र में विलीन हो गई थी। इसकी कथा विस्तार से आगे बतावेंगे। उस समय भगवान् ने क्रीड़ा के लिये—मनोरंजन के लिये, अपनी भक्तवत्सलता दिखाने के लिये, विनोद के लिये और न जाने क्यों ? बड़ी बड़ी मायायें रचीं। यह लीला इतनी अद्भुत हुई कि एक अवतार से काम न चला, दो से भी नहीं, तीन से भी नहीं। चार अवतार धारण किये। एक अवतार से तो देवताओं को पट्टी पढ़ाकर प्रेरित किया। असुरों को राजनीति से समयानुकूल सन्धि करके समुद्र मथने की सम्मति दी। गरुड़ पर चढ़ कर मन्दराचल को मथानी बना कर उठा लाये और मथने के लिए क्षीरसागर में डाला। अब निराधार इतना भारी पहाड़ समुद्र के अथाह जल में कैसे ठहर सकता था, अतः आप ने लाखों

योजन लंबा कछुए का रूप रख कर उसे अपनी पीठ पर धारण किया। अरे, इतने बड़े पहाड़ के घूमने से पीठ छिली न होगी? कष्ट तो हुआ ही होगा? अजी, तुम कहते हो कष्ट, उन्हें तो वह महापर्वत ऐसा लगता था मानो पीठ पर कोई चींटी रेंग रही हो, मानो कोई शनैः-शनैः पीठ को सुहरा रहा हो।

अब क्षीरसागर से अमृत लेकर निकलना किसी देव दानव का काय तो है नहीं। अतः स्वयं ही 'धन्वन्तरि' रूप से अमृत का कलश लेकर निकले भी।

कैसी लीला है, कुछ समझ में नहीं आती। स्वयं ही तो मथ रहे हों, स्वयं ही अमृत लेकर निकले हों, फिर भी ऐसे अल्पवीर्य सिद्ध हुए कि असुर एक ही झपट्टे में इनके हाथ से अमृत लेकर भाग गये। ये देखते के देखते ही रह गये। देवताओं के मुख सूख गये। उनकी आकृति बिगड़ गई। उनकी ऐसी दशा देख कर कुछ कृपा से, कुछ विनोद से लीलाधारी हँस पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—"अरे, दुखी क्यों होते हो? मैं तुम्हें युक्ति से अमृत पिलाऊँगा, घबड़ाओ मत।"

अब आपने एक ऐसा रूप बनाया, जिसे न कहते बनता है न सुनते। कहाँ तो कुमार, नरनारायण, कपिल, दत्तात्रेय, नारद ऐसे अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, छल कपट से कोसों दूर, तपोनिष्ठ परम सात्विक अवतार और कहाँ प्रमदा का अवतार। "दयानिधि! तेरी गति लखि न पड़े।" लोग से लुगाई बन गये।

'क्यों जी! लुगाई बुरी होती हैं क्या?' अजी, बुरी कौन बताता है, अच्छी ही हैं। अब तक भी जितने अवतार लिये माताओं के गर्भ से ही लिये। वे मातायें किसी की पत्नी ही थीं।

किसी भले आदमी की पत्नी के रूप में प्रकट होते तो कोई बात ही नहीं थी, किन्तु यह अवतार तो प्रमदा 'पण्यस्त्री' रूप में हुआ। जिसने असुरों को ही नहीं लुभाया, देवाधिदेव महादेव को भी चक्कर में फँसा लिया। हे भगवान् ! आप के इस अनोखें अद्भुत अवतार को दूर से ही नमस्कार है।

ब्रह्माजी के वरदान को सत्य करने के लिये तथा अपने भक्त की भी रक्षा करने के निमित्त भगवान् आधे नर और आधे सिंह रूप से विलक्षण सर बना कर नृसिंह रूप में अवतरित हुए।

राजा बलि बड़े धर्मात्मा थे, किन्तु थे असुर। असुर होकर वे इन्द्रासन पर बैठ गये। इन्द्र को मार भगाया। इन्द्र और उनकी मा भी उनके भक्त थे और बलि भी। अब क्या करें ? धर्म संकट में पड़ कर आप बड़े से वामन बन गये। कपट का आश्रय लेकर बलि को पाताल का राजा बनाया और इन्द्र को स्वर्ग का। इस अद्भुत मनोहर कथा का वर्णन वामनावतार की कथा में करेंगे।

बहुत से क्षत्रिय ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो गये। वे अपने ब्रह्मण्यता कर्म को भूल गये। तब दयालु भगवान् ने अपने हाथ में फरसा उठाया। क्षत्रिय काँप गये। अरे, ऐसा अवतार तो आज तक उत्पन्न नहीं हुआ। ब्राह्मण होकर इतनी नृशंसता। उन्हें क्या पता कि माली इतने पेड़ों को निर्दय होकर कैंची से क्यों कतर रहा है ? आप पास के पेड़ों को क्यों उखाड़ रहा है ? इसका रहस्य तो माली या वृक्ष विज्ञान के विशेषज्ञ ही जान सकते हैं कि कौन से पेड़ उखाड़ फेकने योग्य हैं, कौन से काटने योग्य, कौनसे बचाने योग्य। सो यह परशुराम अवतार ऐसा ही अवतार था।

प्रत्येक त्रेता में धर्म की रक्षा के लिये असुरों का संहार करने के निमित्त भगवान् रामरूप से अवतरित होते हैं। यह त्रेता का युगावतार है। इतना सौम्य, सरल, सच्चा, सुन्दर, साहसी, सतोगुणी, स्नेहभरित अवतार संसार में दूसरा न हुआ न होगा।

जब द्वापर के अन्त में मनुष्य अल्पायु, अल्पज्ञान, शौच, सदाचार से हीन हो जाते हैं तथा महान् ज्ञान को धारण करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब श्री हरि प्रत्येक द्वापर के अंत में व्यास रूप से अवतीर्ण होते हैं। वेदों का व्यास करते हैं। पुराणों को संग्रह करके उनके मनुष्यों के उपयोगी विभाग बनाते हैं। इतिहास कथाओं को संग्रह करते हैं तथा समस्त ज्ञान को सरलता के साथ लौकिक भाषा में प्रकट करते हैं। गत द्वापर में भगवती सत्यवती के गर्भ से भगवान् पराशर के वीर्य से कृष्णद्वैपायन नाम से भगवान् वेदव्यास रूप से प्रकट हुए। जिन्होंने समस्त पुराण तथा पुराणों में तिलक स्वरूप श्रीमद्भागवत की भी रचना की। वेदों का विभाग किया तथा लौकिक भाषा में पंचमवेद महाभारत का भी निर्माण किया।

उसी समय वृष्णि वंश में रामकृष्ण रूप से दोनों अवतार साथ ही साथ हुए। बलराम जी तो धराधर शेष जी के अंशावतार हैं। श्रीकृष्ण को कोई नर-नारायण का अवतार कहते हैं, कोई भूमा पुरुष के कृष्णकेश का अवतार कहते हैं, कोई-कोई लोक रक्षक विष्णु का अवतार कहते हैं और व्यास जी कहते हैं—"ये सब अवतार कोई अंशावतार हैं, कोई कलावतार; किन्तु कृष्ण तो स्वयं साक्षात् परब्रह्म ही हैं। उनका अवतार नहीं; स्वयं जैसे थे तैसे ही आ गये। अपने नित्य लोक में जो

लीला मानवीय नेत्रों से अप्रकट रूप से करते थे, उन्हीं सब लीलाओं को अपने समस्त परिकर के साथ आकर प्रकट रूप से कुछ क्षणों के लिये श्री वृन्दावन धाम में किया। ये बड़ी रहस्य की बातें हैं। प्रसंग आने पर आगे इस विषय पर विशेष विवेचन किया जायगा।

जब अधर्म को धर्म की आड़ में असुर करने लगे, जब पाप को पुण्य की पोशाक पहिना कर इन्द्रियों की तृप्ति में मनुष्य लगते हैं। जब ब्राह्मणों का वेष बना कर दैत्य मिथ्या यज्ञ-मान प्रतिष्ठा और इन्द्रिय लोलुपता के लिये मिथ्या यज्ञ में प्रवृत्त हो जाते हैं। तब भगवान् उन असुरों को छलने के लिये 'बुद्ध' नाम से उत्पन्न हुआ करते हैं। यह अवतार दैत्यों को ठगने के लिये है। इनके उपदेशों को समझने के लिये दैवीसम्पत्ति सम्पन्न प्रज्ञा चाहिये। असुर तो इसके ऊपरी अर्थ को ही समझ कर मुग्ध हो जाते हैं और धर्म से पतित हो जाते हैं।

जब घोर कलियुग आजाता है। धर्म का लेश भी नहीं रहता। सर्वत्र अधर्म, अत्याचार, स्वार्थ और व्यभिचार का बोलबाला हो जाता है, तब उस अधर्म का नाश करने के निमित्त श्रीहरि कल्कि रूप में अवतीर्ण होते हैं। यह कलियुग का युगावतार है। प्रत्येक कलि में यह अवतार होकर कलयुगी भावों का अंत करके सत्ययुग की स्थापना करता है। ये ही भग-वान् के मुख्य मुख्य अवतार हैं।

शौनक जी ने पूछा—"सूत जी, कुमारों को मिलाकर ये तो कुल २२ ही अवतार हुए। हमने तो भगवान् के २४ अवतार सुने हैं।"

सूतजी ने कहा—"ऋषियो ! भगवान् के अवतारों की कोई निश्चित गणना नहीं। यदि गणना ही हो जाय तो फिर वे अनन्त कहाँ रहे। २४ तो उपलक्षण मात्र हैं। इनके अतिरिक्त भी ध्रुव पर कृपा करने वाले ध्रुव विष्णु, गज को ग्राह से छुड़ाने वाले हरि विष्णु, हंसावतार विष्णु, हयग्रीवावतार इस प्रकार भगवान् के अनंत अवतार हैं। आगे अवतार प्रसंग में और भी गिनाये जायेंगे। जितने ऋषि हैं, मनु, देवता, मनुपुत्र, पराक्रमी राजा, प्रजापति सभी भगवान् के अंशावतार हैं। सभी में उन्हीं हरि का अंश प्रविष्ट होकर त्रैलोक्य में पालन कार्य कर रहा है। कभी २ असुरों में भी अपना पराक्रम प्रविष्ट कर देते हैं, तो वे भी प्रबल हो जाते हैं और देवताओं तथा अवतारों को भी दबा लेते हैं। अनेक रूपों में वे ही नटनागर लीलाधारी बाँकेविहारी क्रीड़ा कर रहे हैं।

जहाँ से ये कला और अंश निकलते हैं, वे श्रीकृष्ण तो परात्पर परिपूर्ण स्वयं भगवान् हैं। उनकी अवतारों में गणना नहीं, वे तो सब अवतारों के अवतारी हैं। उनके अंश और कला से प्रकट हुए अवतार दैत्यों का दमन और असुरों का संहार करते हैं। ये अवतार प्रत्येक युग में, प्रत्येक मन्वन्तर में उत्पन्न होते हैं। सब अवतारों के कार्य पृथक् होते हैं। अपने कार्य को करके वे अन्तर्धान हो जाते हैं। कई कार्यों के लिये कभी-कभी कई अवतार एक साथ भी प्रकट होते हैं। महाभारत के समय कई अवतार एक साथ ही हुए—नर अवतार, नारायण अवतार, बलराम अवतार, व्यासावतार, श्रीकृष्णावतार। इनके अतिरिक्त परशुराम, कपिल, नारद, कुमार—ये सब विद्यमान थे ही, अब भी हैं। सब का कार्य क्षेत्र पृथक् है। किन्तु श्रीकृष्ण का कोई कार्य नहीं। वे तो क्रीड़ा करते रहते हैं। कभी-कभी

अनुग्रह सृष्टि के जीव इस पृथ्वी पर अत्यधिक हो जाते हैं, तो उनके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त स्वयं साक्षात् रूप से इस धराधाम पर अपनी लीला को प्रकट करके दिखा देते हैं। सब उसे देखने के अधिकारी भी नहीं। जिनका कर्म बन्धन कट गया है, जो उनकी नित्य लीला में सम्मिलित होने के अधिकारी हो गये हैं, जिन्हें उनके परिकर में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त हो गई है, वे ही महाभाग इस प्रकट लीला के दर्शन के अधिकारी होते हैं। वैसे उनके अपने लोक में तो ये लीलायें नित्य ही होती हैं। भावुक भक्त भगवत् अनुग्रह से भावना द्वारा भागवान् की इन लीलाओं का (नित्य ही आस्वादन करते हैं। इन सब विषयों की चर्चा प्रसंगानुसार विस्तार से होगी।

छप्पय

हैं कुमार, वाराह, कपिल, नारद अवतारा।
नर नारायण, ऋषभ, दत्त, पृथु, यज्ञ अपारा॥
धन्वन्तरि, नरसिंह, मत्स्य, कच्छप, वामन, हरि।
परशुराम, श्रीराम, व्यास, बलराम, रूपधरि॥

कलाअंश संभव सकल, शुभ अवतार महान हैं।
कृष्ण स्वयं भगवान हैं, सब के आदि निधान हैं॥

———

पावन प्रश्न

(१३)

कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वाकेन हेतुना ।
कुतः सञ्चोदितः कृष्णः कृतवान् संहितां मुनिः ।।१

(श्री० भा० १ स्क० ४ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

सूत ! कहो अब कथा कहाँ पर किस के द्वारा ।
प्रकट भागवत भई कहाँ कीयो विस्तारा ।।
व्यासदेव मुनि महा तनय उनके अति ज्ञानी ।
पागल प्रेत समान फिरें मानो अज्ञानी ।।

सुनी कथा कैसे कही, नृपति परीक्षित प्रति सभी ।
सूत ! सुनाओ सब कथा, हो संतोष हमें तभी ।।

रहस्यमयी बात की भूमिका सुनकर उसको विस्तार-पूर्वक सुनने की इच्छा स्वाभाविक ही होती है । जो बात संभव न हो

---

१ शौनकादि ऋषि सूतजी से पूछने लगे —"हे सूत जी ! आप हमारे इन प्रश्नों का भली भाँति उत्तर दीजिये कि यह भागवती कथा किस युग में प्रकट हुई, किस स्थान पर प्रकट हुई, और किस कारण से प्रकट हुई ? महामुनि कृष्ण द्वैपायन भगवान् ने किसकी प्रेरणा से इस सात्वत् संहिता की रचना की ?"

उसके सम्बन्ध में जब कोई कहता है, तो मन में अनेक प्रश्न उठने लगते हैं, कि ऐसा तो संभव नहीं था। यह किस कारण से हुआ?

सूतजी ने सूत्र रूप से कहा कि यह भागवती कथा पहिले भगवान् व्यास ने बनाई, अपने प्यारे पुत्र शुक को पढ़ाई, शुक मुनि ने विप्र शाप से शापित राजा परीक्षित को सुनाई। इसमें कई बातें ऐसी थीं, जिनका होना संभव नहीं था। एक से एक आश्चर्य की बात थी, अतः शौनकादि ऋषि सूत जी से प्रश्न करने लगे।

शौनक बोले—"महाभाग सूतजी! आप बड़े बुद्धिमान् हैं। बहुत से लोग बुद्धिमान तो होते हैं किन्तु सब विषयों को समझने में समर्थ नहीं होते। किसी विशेष विषय में ही उनकी बुद्धि विशेषता दिखाती है; किन्तु आप तो सर्व शास्त्रों के ज्ञाता हैं, समस्त विषयों के विशेषज्ञ हैं। बहुत से लोग स्वयं तो सब बातों को भली भाँति समझ लेते हैं, किन्तु दूसरों के सम्मुख भली भांति व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते, परन्तु आप तो वक्ताओं में भी विशारद हैं। जिस विषय को आप जिस प्रकार समझते हैं, उसे उसी प्रकार श्रोता पर व्यक्त करने में भी समर्थ हैं। वक्तृत्व शक्ति सभी में नहीं होती। सहस्रों में कोई सुयोग्य वक्ता होता है। आप उन्हीं कुशल वक्ताओं में से हैं।

"आपने कहा कि मैंने भगवान् शुक से भागवती कथा सुनी, सो कृपा करके उसी पुण्य कथा को हमें भी सुना दीजिये। आपके पिता समस्त पुराण और शास्त्रों के वक्ता थे, बड़े बुद्धिमान् थे, अतः आपका विन्दु कुल बड़ा ही पवित्र है। आप योग्य

पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। आपने कृष्ण कथा भगवान् शुक से सुनी। शुकदेवजी के सम्बन्ध में कुछ कहना मानो सूर्य को दीपक दिखाना है। उनके पिता साक्षात् विष्णु के अवतार हैं। वे स्वयं परम विरक्त, महान् ज्ञानी और अद्वितीय भगवद् भक्त हैं, उनके आप शिष्य हैं, अतः आपका नाद कुल भी परम पावन है। इस प्रकार आप विन्दु और नाद दोनों कुलों के सम्बन्ध से कुलीन हैं। कुलीन पुरुष चाहे धनहीन और गुणों से रहित भी क्यों न हो, वह वन्दनीय ही होता है। थोड़ा हो चाहे बहुत, कुल परम्परा का प्रभाव प्रायः सभी में होता है। शील ही मनुष्य की शालीनता का द्योतक है और शीलगुण अधिकांश वंश परम्परा से ही प्राप्त होता है, अथवा सज्जन पुरुषों के संग से भी प्राप्त हो जाता है। कुलीन पुरुष के सम्मुख की हुई याचना विफल नहीं होती। वह सदा सफल ही हुआ करती है। अतः जैसी आपने शुकदेव स्वामी के मुख से कथा सुनी है वैसी ही आप हमें सुनाइये।

व्यास भगवान् ने इस लोक हितकारिणी, श्रीकृष्ण स्वरूप धारिणी, कलिमल हारिणी, बद्ध प्राणियों को तारिणी और विरक्त ज्ञानी मुनियो के भी मन को हारिणी भागवती कथा की रचना कहाँ पर की, क्यों की, कब की, किस लिये की?

आप कह सकते हैं, कि उन्होंने वैसे ही अपनी इच्छा से इसको रचा। यह तो ठीक ही है, किन्तु उन महर्षि के लिये स्वयं तो कोई कर्तव्य था नहीं, वे स्वयं आत्माराम हैं, फिर भी उन्होंने लोक-हित के लिये वेदों का व्यास किया, पुराणों का संग्रह किया, उसी प्रकार इस कथा की भी रचना की या किसी दूसरे ने उन्हें इस कार्य में प्रवृत्त किया। वैसे तो सभी कार्य ईश्वरेच्छा, दैव-इच्छा से ही होते हैं। भगवत् इच्छा के

बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, फिर भी कार्यों के कारणों को देखकर कर्मों के तीन विभाग किये हैं। एक स्वेच्छा से किया हुआ कर्म, एक परेच्छा से किया हुआ कर्म और एक दैवेच्छा से किया हुआ कर्म। दुर्योधन ने स्वेच्छा से जुआ खेला, वनवास की अवधि समाप्त होने पर उसे पांडवों का राज्य लौटा देना चाहिये था, किन्तु उसने स्वेच्छा से नहीं लौटाया। ऐसे कार्य स्वेच्छा से किये हुए कहलाते हैं।

अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहता था। उसे अपने कुल परिवार का, पूजनीय पुरुषों का वध करना अभीष्ट नहीं था। वह खून से सने हुए राज्य की अपेक्षा भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करने को श्रेष्ठ समझता था, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान् ने प्रेरणा करके उससे युद्ध कराया, शत्रुओं का संहार कराया, पांडवों को एक छत्र सम्राट् बनाया। ऐसे कार्य जो दूसरों के द्वारा प्रेरित किये जाने पर किये जाते हैं, वे परेच्छा कर्म कहलाते हैं। महाराज युधिष्ठिर कौरवों को मारने के अनंतर राज्य सिंहासन पर बैठना नहीं चाहते थे, किन्तु व्यासादि महर्षियों ने, भीष्म पितामह ने, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने उन्हें भाँति-भाँति के उपदेश देकर, तरह-तरह की नीति समझा कर, राज्य करने के लिये प्रेरित किया। स्वेच्छा कार्य से करने वाला पुरुष निःशंक होकर करता है, दूसरों की बात जो उसके प्रतिकूल हो किसी प्रकार नहीं मानता। शंकित अवस्था में प्रेरित कर्म किया जाता है। जब मन में किसी विषय की शंका हो और स्वयं उसका समाधान करके कार्य में प्रवृत्त होने की क्षमता न हो, उस समय जो अपने से श्रेष्ठ, अपने हितैषी-जन, जिस कार्य को करने की प्रेरणा करते हैं और उसे ही कल्याण-कारक समझ कर हम करने लगते हैं। यह परेच्छा से किया हुआ कर्म है। जिसे हम

स्वयं तो करना नहीं चाहते हों, किन्तु परिस्थितियाँ हमें उन्हें करने को विवश कर दें और बिना सोचे-समझे हमें प्रारब्ध-वश उनमें प्रवृत्त होना पड़े तो उन कार्यों को दैवेच्छा कर्म कहते हैं। कुमारावस्था में कुन्ती गर्भ धारण करना नहीं चाहती थी, किन्तु दैवेच्छा से धारण करना पड़ा। वे अपने पुत्र का पानी में परित्याग करने को हृदय से कटिबद्ध नहीं थीं, किन्तु परिस्थितियों ने उन्हें ऐसा करने को विवश कर दिया। कर्ण अपने सगे भाई पांडवों से लड़ना नहीं चाहते थे, किन्तु भवितव्यता ने ऐसा जाल रचा कि उन्हें अपने सगे भाइयों से लड़ना पड़ा और अपने छोटे भाइयों की पत्नी द्रौपदी से कुवाच्य वचन कहने पड़े। वैसे तो इन सब में प्रभु की ही इच्छा थी। इसलिए सूतजी! आप हमें यह बताइये कि भगवान् व्यास ने इस भागवती संहिता की रचना स्वतः की या किसी की आज्ञा से की? यदि आज्ञा से की तो वह किनकी आज्ञा थी और उन्होंने क्यों आज्ञा दी?

एक बात आपने और भी आश्चर्य की बताई। उससे हमारा विस्मय अत्यधिक बढ़ गया। अपने कहा कि श्रीव्यासजी ने यह पूरी की पूरी बृहद् संहिता अपने पुत्र शुकदेव को सुनाई। श्रीशुकदेव जी की चर्चा तो हम अपने पूज्य ऋषि मुनियों से बहुत दिनों से सुनते आ रहे हैं। उनके त्याग वैराग्य के सम्बन्ध में तो हमने अनेक प्रकार के अद्भुत-अद्भुत उपाख्यान सुने हैं। उनके उत्कट वैराग्य की बातें तो हमें बहुत ऊँचा उठाती हैं, विरक्ति का पाठ पढ़ाती हैं, वासना-हीनता की शिक्षा देती हैं, वे तो जन्म से ही संसारी विषय वासनाओं से उदासीन द्वैतभाव से रहित, सब को समान समझने वाले और परमहंस वृत्ति के थे। उनको तो पढ़ने-पढ़ाने का ज्ञान ही नहीं था। उनके

सम्बन्ध में हमने ऋषियों से एक बड़ी ही विचित्र कथा सुनी है।

हमने सुना है, शुकदेव जी १६ वर्ष तक इस संसार के बन्धनों से भयभीत होकर गर्भ में ही रहे। व्यासजी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने द्वारिकानाथ श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् से जा कर सब समाचार कहे। शुक के समाचार को सुन कर श्याम-सुन्दर द्वारिका से व्यासाश्रम पर पधारे और उन्होंने गर्भस्थ श्रीशुक को आश्वासन दिया कि तुम्हें संसार की माया व्याप्त न होगी। भगवत् वचनों पर विश्वास करके श्रीशुक गर्भ से बाहिर हुए। बाहिर होने पर व्यासजी उनके लौकिक वैदिक संस्कार करने में प्रवृत्त हुए, किन्तु उन्होंने उन कर्मों का अनुमोदन नहीं किया। वे उन सभी संस्कारों को बिना कराये ही, जिस अवस्था में गर्भ से निकले थे, उसी नग्नावस्था में वन को चले गये। व्यासजी पुत्र-शोक से दुखी हुए और 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़े। किन्तु उन्होंने पीछे फिर कर भी नहीं देखा। ऐसे शुक ने सम्पूर्ण सात्वत संहिता—यह भागवती कथा कैसे पढ़ी? यही नहीं उन एकान्तमति महायोगी की समदर्शिता के सम्बन्ध में एक और भी विलक्षण कहानी सुनी है।

जब वे नग्नावस्था में अपने आप में मग्न हुए वन की ओर जा रहे थे तो उनके पीछे-पीछे बूढ़े व्यास भी पुत्र-पुत्र कह कर दौड़ रहे थे। आगे उन्होंने भगवती सुरसरि में स्नान करते हुए स्वर्ग की अप्सराओं को देखा। वे अपने सम्पूर्ण वस्त्र पुण्यतोया अलकनंदा के किनारे रख कर नग्न होकर नहा रहीं थीं। जब उनके सामने से परम रूप यौवन सम्पन्न षोडश, वर्षीय दिगम्बर श्रीशुक निकले तो, वे उसी तरह हँसती हुई, एक दूसरी के ऊपर

जल उलीचती हुईं, नाना भाँति की जल क्रीड़ा करती हुईं बिना किसी शील संकोच के नहाती रहीं। श्रीशुकदेव जी जैसे बन, पहाड़ वृक्षों को देखते जाते थे, वैसे ही उन्होंने उन देवाङ्गनाओं को भी देखा। देवाङ्गनाओं ने भी उन्हें देखा, उनके मन में कोई भाव ही नहीं उठा। जैसे और पशु पक्षी उड़कर इधर उधर जा रहे थे, वैसे ही उन्होंने शुक को भी एक सुन्दर पक्षी के ही समान समझा। शुकदेव जी अपने आनन्द में मग्न हुए आगे निकल गये। जब उन अप्सराओं ने शुक के पीछे हंस के पंखों के समान शुभ्र दाढ़ी जटावाले भगवान् व्यास को देखा तो उन्होंने मारे लज्जा के अत्यन्त ही शीघ्रता के साथ अस्त व्यस्तावस्था में अपने वस्त्र धारण किये। उन्होंने सभी अङ्गों को ढक लिया।

व्यासजी इस चरित को देखकर परम चकित हुए। वे मन में सोचने लगे—भैया, इन लुगाइयों ने तो आज विचित्र व्यवहार किया। परम रूप यौवन सम्पन्न नग्नावस्था में मेरे पुत्र को देख कर तो ये नंगी नहाती रहीं और मुझ बूढ़े को वस्त्र पहिने देखकर ये बड़ी लज्जावाली बन गईं। बूढ़े पर रहा नहीं गया, बात को पचा भी न सके। पचाने की बात भी नहीं थी। यह तो अपने ऊपर लांछन था, प्रत्यक्ष अपमान था। जाकर खड़े हो गये और बात चलाने को पूछा—"पुत्रियो! इधर से मेरा बेटा गया है, तुमने उसे इधर जाते हुए देखा तो नहीं?" लज्जा से अपने गुह्यअंगों को यत्नपूर्वक ढकती हुईं, अपने शरीर में ही मानो घुस जानां चाहती हों, इस तरह सम्पूर्ण शरीर को संकुचित करके लज्जा के साथ उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, भगवन्! हमने उन महाभाग को जाते हुए देखा

है, वे अभी इधर उत्तर की ही ओर गये हैं। थोड़ी ही दूर पहुँचे होंगे।"

व्यासजी को पुत्र के सम्बन्ध में थोड़े ही पूछना था, पुत्र तो उनके सामने ही जा रहे थे, उन्हें तो बात चलानी थी। बात आरम्भ करने की भूमिका थी। जब बातचीत आरम्भ हो गई तो उन्होंने कहा—"बेटियो! मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ, यदि तुम बुरा न मानो तो पूछूँ?"

देवाङ्गनाओं ने लजाते हुए कहा—"भगवन्! आप कैसी बात कह रहे हैं? आप तो हमारे पिता के समान हैं, अपनी पुत्रियों से भला ऐसे पूछा जाता है? आप बिना संकोच के जो पूछना चाहें पूछें। हम उसका यथामति उत्तर देंगी।"

व्यास जी ने महत्व प्रकट करते हुए कहा—"हाँ, तभी तो मैं पूछता हूँ। मैं यही पूछना चाहता था, कि मेरा पुत्र परम रूपवान है, युवावस्था सम्पन्न है, उसके सभी अंग सुडौल हैं, फिर भी वह दिगम्बर है, शरीर पर एक भी वस्त्र नहीं पहिने है। वह जब तुम्हारे सामने से निकला, तब तुमने किसी प्रकार का शील संकोच नहीं किया। अनावृत स्नान करतीं रहीं, खेलती कूदती रहीं और जब मैं बूढ़ा आया, जिसके सब बाल सफेद हो गये हैं, वृद्धावस्था के कारण इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं और जो सम्पूर्ण अंगों को वस्त्रों से ढके है, ऐसे मुझे देखकर तुम अत्यधिक लजा गईं, अत्यन्त हड़बड़ाहट के साथ वस्त्र पहिनने लग गईं। इसका क्या कारण है? एक तो मैं बूढ़ा हूँ, तुम्हारे पिता के समान हूँ, सतशास्त्रों में पारंगत हूँ, धर्म का व्यवस्थापक हूँ, मेरे ऊपर तो तुमने सन्देह किया, और जिस युवावस्था को पाकर प्राणी उन्मत्त हो जाता है, कर्तव्याकर्तव्य

का ज्ञान भूल जाता है, उसी अवस्था को प्राप्त मेरे पुत्र से तुमने तनिक भी पर्दा नहीं किया। इसका रहस्य मुझे बताओ।"

उन देवाङ्गनाओं में जो सर्वश्रेष्ठ थी, वह बोली—"भगवन्! न तो हमने आप पर अविश्वास किया है, न हमारा विचार आपके प्रति कुछ अन्यथा ही है, किन्तु हमने जो भी कुछ किया है नारी सुलभ स्वाभाविक लज्जा के ही वशीभूत होकर किया है। स्त्री कैसी भी क्यों न हो, उसमें शील संकोच लज्जा रहती ही है।"

व्यास जी बोले—"हाँ, यह तो मैं मानता हूँ, किन्तु तुमने मेरे पुत्र के सामने लज्जा क्यों नहीं की?"

वही देवाङ्गना बोली—"प्रभो! लज्जा होती है, विकार की संभावना में। जहाँ विकार की संभावना नहीं वहाँ लज्जा भी नहीं।"

व्यास जी ने कहा—"तब यह तो मेरे चरित्र पर प्रत्यक्ष अविश्वास प्रकट करना हुआ।"

हाथ जोड़े हुए थर-थर काँपती हुई, भयभीत वाणी में वह देवाङ्गना बोली—"भगवन्! मैं आपके श्रीचरणों में सिर से प्रणाम करती हूँ, मेरा अभिप्राय यह नहीं था। आप में और आपके पुत्र में इतना ही अंतर है, कि आपने तो संसारी सुख भोगा है, आपको यह ज्ञात है कि स्त्री भोग्या होती है, किन्तु आपके पुत्र संसारी सुखों से सर्वथा अपरिचित हैं। उनको स्त्री पुरुष का ही भेद नहीं है। आप यह जानते हैं कि ये स्त्रियाँ हैं, ये पुरुष हैं। इतना ही नहीं, स्त्रियों में भी आपके मन में भेदभाव है। हम छोटी अवस्था की हैं, इसलिये आप हमें बार-बार पुत्री-पुत्री कह कर पुकार रहे हैं। यदि कोई आपके बराबर की होती तो उसे आप बहिन कहते। आपसे

भी जो बहुत बूढ़ी होती उसे आप माता कहते और महाभाग शुकदेव की जननी में आपका पत्नी भाव है ही। आपको इतना भी ज्ञान है, कि सभी स्त्रियाँ किसी न किसी की पत्नी होती हैं। आप यह भी जानते हैं कि पर पत्नी से संसर्ग करना पाप है, इसीलिये आप दूसरी समस्त स्त्रियों को पुत्री, बहिन अथवा माता के समान समझने का सदा प्रयत्न करते हैं। हम स्त्रियाँ भी छोटे बच्चों से जब तक उनके मन में भेदभाव नहीं होता किसी प्रकार की लज्जा नहीं करतीं। जब उसे स्त्री पुरुष का भेद होने लगता है, तो फिर चाहे वह हमारा पुत्र हो, भाई हो उससे लज्जा करने लगती हैं। बड़ी होने पर पिता से भी लजाती हैं। आपके पुत्र तो जानते ही नहीं, स्त्री-पुरुष दो भी हैं। उन्हें स्त्री पुरुषों में ही जब भेदभाव नहीं तो स्त्रियों में तो भेदभाव होना क्या था। इसीलिये हम निःशंक नहाती रहीं। उन्होंने हमारी ओर देखा भी, किन्तु उसी प्रकार जैसे वे पेड़ पर्वतों को देखते जाते थे। न उनकी आँखों में कोई विकार था, न मन में भेदभाव। आप चाहें दृष्टि बचाकर ही चले जाते, हमारी ओर देखना भी पाप समझते, फिर भी मन में अवश्य सोचते—ये स्त्रियाँ कितनी निर्लज्ज हैं, जो मुझे पुरुष को देखकर भी नंगी नहाती रहीं। प्रभो! हमारा अपराध क्षमा हो। आपके पूछने पर ही हमने उत्तर देने की धृष्टता की, नहीं आपको कौन सिखा सकता है। देवताओं के गुरु वृहस्पति भी आपको शिक्षा देने में असमर्थ हैं। आप साक्षात् नारायण हैं। यदि हमारे उत्तर में कोई अविनय हुई हो तो उसे आप अपनी उदारता से क्षमा करें और हमें अभय प्रदान करें।"

देवाङ्गनाओं के ऐसे उत्तर को सुनकर व्यासजी लज्जित

भी हुए और प्रसन्न भी। लज्जित तो इसलिये हुए कि इन अप्सराओं ने मेरे प्रश्न का कैसी मीठी भाषा में मुँह तोड़ उत्तर दिया। प्रसन्न इसलिये हुए कि मेरा पुत्र कितना निर्विकार है। समस्त प्राणियों के हृदय में उसके समत्व की कैसी छाप लगी है, किसी को इससे उद्वेग ही नहीं होता। ऐसा सोचते हुए व्यासजी आगे बढ़े। देवाङ्गनायें भी उन्हें भक्ति पूर्वक प्रणाम करके स्वर्ग को चली गईं।

सो, सूतजी! यह तो श्रीशुकदेव के सम्बन्ध में हमने भेदभाव से रहित समदृष्टिपने की बात सुनी। दूसरा चमत्कार शुकदेव जी ने यह दिखाया कि जब उनके पिता उनके पीछे 'पुत्र-पुत्र!' ऐसा पुकारते हुए दौड़े आ रहे थे तब उन्होंने बनके सभी वृक्षों से अपनी तन्मयता दिखाते हुए 'हाँ-हाँ!' ऐसा उत्तर दिलाया। सब वृक्षों से उत्तर पाकर व्यासजी ने पुत्र विषयक अपना शोक त्याग दिया। वे समझ गये कि मेरा पुत्र सर्व भूतात्मा है। वह सभी प्राणियों में अपने को देखता है और अपने में सब प्राणियों को समझता है। ऐसे समस्त भूतों के अन्तरात्मा व्यास नन्दन श्रीशुक ने इस महान् भक्तिवर्धक ग्रन्थ को क्यों पढ़ा? ऐसी उनकी बृद्धि किस कारण से हो गई? वे अपने ज्ञान वैराग्य को भूलकर पठन पाठन में प्रवृत्त क्यों हुए? यह हमारा दूसरा प्रश्न है।

फिर आपने कहा कि विप्रशाप से शापित गंगा किनारे अन्न जल छोड़े हुए मुनियों से घिरे राजा परीक्षित को शुकदेव जीं ने सात दिन में यह भागवती कथा सुनाई और उसे सुनकर वे राजा मुक्त हो गये। इस विषय में भी हमें कई शंकायें हैं।

पहिली तो यही, कि वहाँ सब लोगों ने परमहंस श्री शुकदेव को पहिचाना कैसे? क्योंकि उन्होंने साधुपने का, ब्राह्मण होने

का, ज्ञानी होने का कोई बाह्य चिह्न धारण ही नहीं किया था। यही नहीं, लोगों को भुलाने के लिये, अपने को छिपाने के लिये उन्होंने पागलों का सा वेष बना रखा था। यद्यपि वे बड़े ज्ञानी थे, महान् वक्ता थे, किन्तु कोई उनसे कुछ प्रश्न करता तो आँखें निकाल कर ऊँ-ऊँ करने लगते। मानो बोलने की इनमें सामर्थ्य नहीं, गूँगे हैं। अपनी चर्चा से वे अपने ज्ञान को छिपा कर अज्ञानियों का सा आचरण करते थे। उन्हें उस कुरुजांगल देश के लोगों ने जान कैसे लिया कि ये ही व्यासात्मज श्रीशुक हैं ?

दूसरी बात यह कि परीक्षित और शुक का यह सम्वाद हो कैसे गया ? इतनी बड़ी कथा उन्होंने राजा के पूछने पर कह कैसे दी ? आप कह सकते हैं कि राजा को अधिकारी समझकर कह दी होगी। यह तो ठीक है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह प्रतीत होती है, कि शुकदेव जी सात दिन एक स्थान पर ठहर कैसे गये ? हमने तो सुना है कि शुक जी गृहस्थियों के घरों में केवल भिक्षा लेने ही जाते हैं और वहाँ भी वे उतनी ही देर ठहरते हैं, जितनी देर में एक गौ दुही जा सकती है। सो भी कुछ भिक्षा-लोभ से जाते हों यह बात नहीं, उन गृहस्थियों के घरों को कृतार्थ करने जाते हैं। गृहस्थियों के घरों में रात्रि दिन शोक मोह व्याप्त रहता है। कोई मर गया, कोई दुखी है, कोई बीमार है, किसी ने बुरी वासना से पाप कर दिया, भ्रूण हत्या, आत्म हत्या, पशु हत्यायें सब होती ही रहती हैं। इन सब आधि व्याधि और पापों से गृहस्थियों के घर नरक के समान पापालय बन जाते हैं। यदि इन घरों में महात्मागण, सिद्धपुरुष, अवधूत, ज्ञानी भिक्षा के बहाने न आवें तो ये पवित्र कैसे हों, तब तो पृथ्वी नरक के ही समान बन जाय।

उन दीन चित्त वाले गृहस्थियों पर दया करके ही श्री शुक उनके द्वारों पर जाते हैं। वहाँ कोई उनका सत्कार करते हैं, कोई तिरस्कार। वे दोनों को समान समझते हुए नगर और ग्रामों को कृतार्थ करते हुए सदा घूमते ही रहते हैं, जैसे नारद जी घूमते रहते हैं। फिर वे ७ दिन परीक्षित के पास गंगा तट पर कैसे रह गये ?

आपने एक यह भी बात कही कि पांडवों के पौत्र, अभिमन्यु-सुत महाराज परीक्षित गंगा किनारे आमरण अनशन करके बैठे थे। यह और भी आश्चर्य्य में डालने वाली बात है। वे राजा तो बड़े धर्मात्मा थे, कुलीन थे, वंशानुरूप थे, उन्होंने तो पांडवों की कीर्ति को देशव्यापिनी बनाया था। उन्होंने अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञ किये थे, चारों दिशाओं को जीतकर उन्होंने अपने साम्राज्य को और बढ़ाया था। वे अपने पराक्रम से समस्त नरपतियों के मुकुटमणि सम्राट् बने थे। उनके चरणों में देश विदेशों के अगणित नृपतिगण आ-आकर अपने मुकुटों के सहित प्रणाम किया करते थे, कि सम्राट् की हमारे ऊपर दया दृष्टि हो जाय, जिससे हम कल्याण के भाजन बन जायँ।

ऐसा देखा जाता है, कि जो धर्मात्मा राजा होते हैं उन्हें सब प्रकार के ऐश्वर्यों को भोगने के अनन्तर वृद्धावस्था में विराग हो जाता है। फिर उन्हें राज्य-पाट, बन्धु-बान्धव, दारा-पुत्र कुछ भी अच्छे नहीं लगते। वे सब कुछ छोड़-छाड़ कर किसी पुण्य प्रदेश या पावन तीर्थ में जाकर तपस्या और व्रतोपवास में निरत हो जाते हैं, किन्तु महाराजा परीक्षित को तो हमने देखा था। उनके राज्यकाल में ही तो हमने इस दीर्घ

सत्र की दीक्षा ली थी। वे तो अभी सर्वथा युवक ही थे। उन्होंने बहुत दिन राज्य भी नहीं भोगा, वे बड़े पराक्रमी थे, उन्हें कोई पदार्थ भी अप्राप्य नहीं था। शरीर उनका सुन्दर, निरोग, रूपवान और दिव्य था। उनकी रानी पतिव्रता, वीरसू, कुलीन और सत् स्वभाव की थी। उनके पुत्र जन्मेजयादि सभी सुयोग्य पितृभक्त, सर्वगुण सम्पन्न, शूर और सच्चरित्र हैं। उनका राज्य समुद्र पर्यन्त है, कलियुग के वे शास्ता थे, उनका एक छत्र साम्राज्य था, सर्वत्र अप्रतिहत आज्ञा थी। इन सब दुस्त्यज पदार्थों के मोह को तृणवत् तोड़कर उन्होंने इस सर्वगुण सम्पन्न, सर्वोपयोगी शरीर को क्यों त्याग दिया ?

आप कह सकते हैं, कि हमारा अपना शरीर है। हम इसे रखने में या त्यागने में समर्थ हैं। जब तक इच्छा हुई रखा, न इच्छा हुई त्याग दिया। इसमें दूसरों का क्या ? यह बात साधारण मनुष्यों के सम्बन्ध में सत्य भले ही हो, किन्तु जो परोपकारी हैं, जिनके शरीर से अनेक जीवों का सदा उपकार होता रहता है, उनका शरीर अपना नहीं है। वह तो सार्वजनिक वस्तु है। उसकी रक्षा करना सार्वजनिक सम्पत्ति की रक्षा करना है। उसे वे स्वेच्छा से छोड़ने में स्वतन्त्र नहीं हैं। जब उनका शरीर अपना है ही नहीं, प्राणि-मात्र का उस पर अधिकार है, तब वे उसे नष्ट कर ही कैसे सकते हैं ? वे तो जनता की धरोहर के वाहक मात्र हैं। वे सम्राट् तो कल्पवृक्ष के समान थे, परम भगवत् भक्त भागवतों में शिरोमणि थे, उनके द्वारा पृथ्वी के चराचर जीवों का उपकार हो रहा था। उन्होंने उपवास करके असमय में इस शरीर को क्यों त्याग दिया ? उनका जन्म कैसे हुआ, उनके कौन-कौन प्रसिद्ध प्रशंसनीय कार्य थे, उन्होंने परम महत्व का कार्य

कौन सा किया ? वे तो ब्राह्मणों के परम भक्त थे। उन्हें किसी ब्राह्मण ने शाप क्यों दिया। शाप की बात सुनकर उन्होंने क्या किया ? इन सभी बातों का आप हम सब को यथार्थ उत्तर दीजिये।

आप कहेंगे कि आपके इतने प्रश्नों का मैं उत्तर कैसे दे सकता हूँ, मुझमें इतनी विद्या बुद्धि कहाँ हैं ? सो, सूतजी ! आपकी विद्या बुद्धि का तो हमें पता है। वेद का तो आपको ऋषियों ने अधिकार नहीं दिया। इसलिये वेद को छोड़कर धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास और भी जो आख्यान हैं, उन सब में आप भली भाँति निष्णात हैं। निस्सन्देह आप उनमें पारंगत है। आप में इतनी योग्यता है, कि हमारे प्रश्नों का उत्तर दे सकें, इसीलिये हम आपसे पूछ रहे हैं। हमारे समस्त प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दीजिये।

छप्पय

सुत-अभिमन्यु नृपाल, उत्तरा के सुख दाता।
पांडुवंश के बीज, दीन दुखियों के त्राता॥
चिंता मणि के सदृश सबनिकी चिन्ता हरते।
कल्पवृक्ष की भाँति कामना पूरन करते॥

भरत खंड की प्रजा का, सुत समान पालन कियो।
न्यासभूत निज देहको, तृण समान क्यों तजि दियो ?

———:❀:———

श्री व्यासदेव

(१४)

द्वापरे समनुप्राप्ते तृतीये युग पर्यये।
जातः पराशरात् योगी वासव्यां कलयाहरेः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ४ आ० १४ श्लोक)

छप्पय

लीला अमित अपार पार प्राणी नहिं पावें।
विविध रूप से उतरि अवनिपै अच्युत आवें ॥
शूकर सिंह सरूप मीन कच्छप वपु धरते।
अंश कला अवतार धारि भक्तनि भय हरते ॥

सत्यवती, मुनि पराशर, द्वापर युग में धन्य हैं।
विष्णु रूप श्रीव्यास जी, जिनके तनय अनन्य हैं ॥

प्रत्येक कार्य में कारण छिपा रहता है। किसी कारण का कार्य प्रकट होते ही लोग तरह-तरह के वादविवाद करने लगते हैं। कोई तो उसे अकस्मात् बताते हैं, कोई सहसा कहते हैं

---

१ सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इस चतुर्भुजी के तीसरे युग द्वापर में पराशर मुनि के वीर्य से वासवी, सत्यवती देवी में भगवान् विष्णु के अंश भूत योगिवर्य भगवान् व्यास का जन्म हुआ।

और कोई दैवेच्छा कह कर मन को समझाते हैं। अज्ञानी पुरुष बिना कारण समझे मोहित हो जाते हैं। ज्ञानी सब का कारण समझता है, अतः वह किसी कार्य से, किसी असंभव कही जाने वाली घटना से, मोह को प्राप्त नहीं होता। सच पूछा जाय तो संसार में सहसा तो कुछ है ही नहीं।

एक बीज हमने बोया। उससे अंकुर हुआ। उसे हम रोज सींचते हैं, पानी देते हैं। एक दिन सुप्रातः उठ कर देखते हैं, उसमें फूल आ गया है। हम उसे देख कर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। कुछ दिनों के अनंतर देखते हैं उसमें एक छोटा सा फल भी लग गया है। हम सोचते हैं यह फल रात्रि ही रात्रि में सहसा कहाँ से आ गया ? हम अज्ञान वश यह नहीं सोचते कि बीज के साथ ही हमने वृक्ष, फल फूल के कारण को भी बो दिया था। बीज में ये सब निहित थे। कारण से कार्य प्रकट होना ही था।

प्रातः सोकर उठे, शरीर के एक भाग में दर्द हुआ, देखते-देखते उसका फोड़ा बन गया। हम सोचते हैं यह सहसा कहाँ से हो गया ? कल तो नहीं था, आज ही हुआ। यह हमारा भ्रम है। वह रोग सूक्ष्म रूप से हमारे शरीर में पहिले से ही विद्यमान था, अपना समय पाकर प्रकट हुआ। इसी-लिए पाप और पुण्य का कारण शरीर बताया है। पाप का परिणाम दुःख और पुण्य का परिणाम सुख होता है। पाप पुण्य बीज हैं, सुख दुःख उसके फल हैं। यह सभी को भोगना पड़ता है। कारण के बिना कार्य होता नहीं। अतः प्रत्येक कार्य का कारण सोचने से सभी शंकायें दूर हो जाती हैं।

शौनकादिक मुनियों के पूछने पर सूत जी ने व्यासचरित कहना आरंभ किया। सूत जी बोले—"मुनियो ! भगवान्

व्यासदेव का अवतार भगवान् पराशर के वीर्य से निषाद राज की पालित कन्या सत्यवती के गर्भ से कुमारी अवस्था में द्वापर युग के अन्त में हुआ।"

इस पर शौनक जी ने पूछा—"महाभाग उग्रश्रवा ! हमें आप भगवान् व्यास के अवतार की कथा विस्तार से सुनाइए। महाभाग्यवती सत्यवती निषाद कन्या क्यों कहलाई ? उनका नाम वासवी क्यों प्रसिद्ध हुआ ? महामुनि ऊर्ध्वरेता पराशर से उनका सङ्गम कैसे और कहाँ हुआ ? अवतार प्रसूता सत्यवती ने पूर्व जन्म में ऐसा कौनसा अपराध किया था, जिससे उन्हें विशुद्ध क्षेत्र, विशुद्ध कुल प्राप्त नहीं हुआ ? पहिले आप हमसे भगवान् व्यास जी का यथावत् चरित कहें, पश्चात् भागवती कथा सुनावें।"

मुनियों के प्रश्न को सुनकर उग्रश्रवा सूत कहने लगे—"मुनियो ! यह जीव अपने ही किन्हीं कर्मों के अनुसार ऊँच-नीच योनियों में आता जाता है। प्रारब्ध का यही चक्र है। दैव की यही विडम्बना है, लीलाधारी की यही लीला है, खिलाड़ी का यही खेल है, मायापति की यही माया है। अचिन्त्यवीर्य भगवान् की चेष्टा समझ में नहीं आती। वे ऐसे कुतूहल पूर्ण जगत् को क्यों बनाते हैं ? कोई कहता है यह उनका विनोद है। ऐसा भी क्या विनोद जो कभी समाप्त ही न हो। जीव एकदम अन्धे होकर उनमें ही लिप्त हो जायँ। यह कर्म चक्र ही संसार को चला रहा है। ये पाप पुण्य ही अनेक योनियों में जीव को भ्रमा रहे हैं। कायिक, वाचिक, मानसिक, तीन तरह के पाप पुण्य होते हैं। उनका परिणाम भी सुख दुःख रूप में तीन ही प्रकार का प्रकट होता है। संसार बनता है, बिगड़ता है। एक सृष्टि की उत्पत्ति होती है, उसका

विनाश भी होता है, फिर नई सृष्टि हो जाती है, नई सृष्टि कहाँ से आती है ? कुछ पता नहीं चलता। जैसे गंगाजी में नित्य नया जल आता रहता है, वृक्षों में पतझड़ होने पर फिर नये पत्ते आ जाते हैं। एक बार पककर फल गिर जातें हैं, दूसरे साल फिर उसमें आजाते हैं और उन फलों में भी अनन्त फल पैदा करने की शक्ति होती है। इसी तरह यह सृष्टि-चक्र चल रहा है। यह सभी समाप्त होने का है नहीं। ज्ञान के द्वारा भगवत् शरण में सर्वात्मभाव से जाने से यह अपने आप विलीन हो जाता है।

ऋषियो ! यह सृष्टि संकल्प के द्वारा ही बनी है। संकल्प से ही बढ़ती है और संकल्प से ही विलीन होती है। देवता, पितर, यक्ष गन्धर्व, मनुष्य सभी संकल्प से उत्पन्न होते हैं। वही संकल्प जब स्थूल रूप धारण करके प्रकट होता है, तो उसे 'काम' कहते हैं। 'काम' संकल्प का ही पुत्र है। पहिले सृष्टि बिना मैथुन के संकल्प मात्र से ही होती थी। जब परस्पर अंग संग की इच्छा का संकल्प उठा तो काम के वशीभूत होकर प्राणी मैथुन में प्रवृत्त हुए। इससे उनकी वह शक्ति विलुप्त हो गई। तब से सृष्टि मैथुनी होने लगी।

पितृलोक में बहुत से नित्य पितर हैं। उन्हीं पितरों में से एक आग्निष्वात्ता नाम के पितर थे। पितरों ने एक 'अच्छोद' नाम का पवित्र सरोवर बनाया। उसी जगह आग्निष्वात्ता पितर की एक मानसी कन्या उत्पन्न हुई। वह बड़ी ही रूपवती, गुणवती और धर्म परायणा थी। पितरों ने उसका नाम उस तीर्थ के ही नाम पर अच्छोदा रख दिया। अच्छोदा ने अपना मन तपस्या में लगाया। संसार में तप ही सार है, यह सोच कर वह देवताओं के दिव्य वर्षों से हजार वर्ष तक तपस्या ही

करती रही। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर पितृगण उसे वरदान देने उसके समीप आये। वे सभी दिव्य रूप धारी कामदेव के समान सुंदर थे। स्वर्गीय दिव्य वस्त्राभूषणों से भूषित थे। उनमें एक अमावसु नाम के पितर अत्तन्त ही रूप वान थे। उनके दिव्य रूप को देख कर अच्छोदा के मन में विकार उत्पन्न हो गया। दिव्य ज्ञान वाले पितरों ने उसका मनो भाव जान लिया। मन में विकार के उत्पन्न होते ही वह अपने योग से भ्रष्ट हो गई। दिव्यलोक से उसका पतन हुआ, किन्तु पृथ्वी पर नहीं आई, अन्तरिक्ष में ही स्थित रही। अमावसु के मन में कोई विकार नहीं हुआ। वे धैर्य को धारण किये रहे। उनके धैर्य से उसके मानसिक संकल्प का संयोग होने से एक कृष्ण वर्ण की अंधकार रूपा कन्या उत्पन्न हो गई। अमावसु के धैर्य के कारण उत्पन्न होने से उसका नाम 'अमावस्या' हुआ जो देव पितरों को परम प्रीति कारिणी हुई। इसीलिये अमावस्या के दिन पितरों के निमित्त किया हुआ श्राद्ध अक्षय होता है। द्विजाति लोग अमावस्या के दिन पितरों के निमित्त दार्श यज्ञ करते हैं।

अन्तरिक्ष में स्थित उस अच्छोदा कन्या ने अपने कर्म से लज्जित होकर पितरों से अपने उद्धार का उपाय पूछा। उसके पूछने पर पितरों ने कहा—"देखो, चाहे मानसिक कर्म हों या शारीरिक, उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। तुम्हारे मन में विकार उत्पन्न हुआ, वह भी अपने कुल के पुरुष के ही प्रति, अतः तुम्हें अट्ठाईसवें द्वापर के अन्त में पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ेगा, सो भी हीनयोनि में। मत्स्य के उदर से तेरा जन्म होगा, अकुलीन वंश में तेरा पालन-पोषण होगा। इतने से ही तेरे पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा। फिर तेरे गर्भ से भगवान् के

के अंशावतार व्यास जी का जन्म होगा। सो, हे ऋषियो! वही पितरों की कन्या अच्छोदा सत्यवती के नाम से इस धरा-धाम पर उत्पन्न हुई और वासवी के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

ऋषियों ने पूछा—"सूत जी! सत्यवती का नाम वासवी क्यों हुआ? इसका तत्व हमें समझाइये।"

ऋषियों के पूछने पर सूतजी बोले—"मुनियो! आर्य संस्कृति में नाम प्रायः सार्थक ही हुआ करते हैं। वे या तो वंश सम्बन्ध से होते हैं या वीर्य पराक्रम और कर्मों के द्वारा। सत्यवती का वासवी नाम भी उसकी कुल परम्परा से सम्बन्ध रखने वाला ही है।

द्वापर युग में एक बड़े ही धर्मात्मा, पराक्रमी, पितरों के पूजक 'वसु' नाम के राजा थे। उनकी पत्नी भी बड़ी यशस्विनी धर्म परायणा तथा पतिव्रता थी। एक दिन वह ऋतु स्नान करके निवृत्त हुई। संतान की कामना वाली वह रानी अपने पति की बहुत ही अनुरक्ता थी। राजा भी उन्हें बहुत चाहते थे। उसी दिन दैवयोग से राजा को पितृकार्य्य से मेध्य कव्य लाने के निमित्त घोर जंगल में जाना पड़ा। महाराज कर्तव्य वश वन में चले तो गये; किन्तु उनका मन अपनी प्रिया में ही लगा रहा। अरण्य में श्रम करते-करते वे थक गये और एक वृक्ष की सघन छाया में अपनी प्रियतमा रानी की ही चिन्ता करते-करते कुछ निद्रित से हो गये। उसी अवस्था में उनका वीर्य-स्खलित हो गया। वे राजर्षि अमोघ वीर्य थे, उनका वीर्य कभी भी व्यर्थ जाने वाला नहीं था। अग्नि के समान उस जाज्वल्य मान शुक्र को राजा ने एक दोना में रख दिया। पास में ही एक श्येन पक्षी बैठा था। उससे राजा ने कहा—"हे पक्षी! तुम

शीघ्र उड़ने वाले हो । मेरा यह अमोघ वीर्य व्यर्थ न जाय वही उपाय तुम करो । इसे शीघ्र ले जाकर मेरी महारानी को दो ।"

सिखाये पढ़ाये पक्षी ने राजा की आज्ञा से उस वीर्य के दोने को चोंच में दबाया और वह आकाश मार्ग से उड़ कर जाने लगा । ऐसा अवसर देख कर अन्तरिक्ष में स्थित उस अच्छोदा ने उस वीर्य में प्रवेश किया । राजर्षि के विशुद्ध वीर्य में ही ऐसी दिव्य कन्या की स्थिति हो सकती है । वह पक्षी जब दोने को लेकर आकाश मार्ग से जा रहा था, तो किसी दूसरे श्येन ने उसे मांस का टुकड़ा समझ कर उससे उसे छीनना चाहा । दोनों में परस्पर युद्ध हुआ । इसी युद्ध में वह दोना गङ्गा जी में गिर पड़ा । वहाँ एक मछली उसे निगल गई । राजर्षि का वीर्य तो कहीं भी जाय, वह व्यर्थ होने वाला नहीं था, मछली के पेट में ही एक कन्या बन गई ।

दैव की गति, होनहार की बात, वही मछली मल्लाहों के जाल में फँस गई । उसका पेट फाड़ा गया । उसमें से परम सुन्दरी एक दिव्य कन्या उत्पन्न हुई । मल्लाहों के राजा ने उसे अपनी पुत्री मान कर पाला पोसा और उसका नाम सत्यवती रखा ।

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान वह बालिका बढ़ने लगी । अपने पिता की वह बहुत ही प्यारी थी । पिता उसके सुन्दर स्वरूप को, उसके शील स्वभाव को, उसके भोलेपन को देखकर मन ही मन प्रसन्न होता और उसे प्राणों से भी अधिक प्यार करता । थोड़ी और बड़ी होने पर वह छोटी नौका खेने लगी । यात्रियों को गंगा के इस पार से उस पार उतारने लगी । वह

सभी को बड़ी प्रिय थी। सभी उसके सरल संकोची स्वभाव से सन्तुष्ट थे। उसका रूप लावण्य अद्वितीय था, वह मृत्युलोक की कन्या प्रतीत नहीं होती थी। प्रतीत होता था, पुण्य क्षीण होने पर कोई देवलोक की देवकन्या या विद्याधरी पृथ्वी पर उतर आई है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती थी त्यों ही त्यों उसका सौन्दर्य और निखरता जाता था।

उसके अनजान में ही यौवन ने उसके शरीर में प्रवेश किया। पिता को उसके विवाह की चिन्ता हुई। पिता सोचता था, यह क्षत्रिय वीर्य से उत्पन्न हुई है। संसार में अद्वितीय रूप लावण्यवती है, यह तो किसी सम्राट् की राजरानी बनने योग्य है। पुत्री को सुन्दर से सुन्दर घर वर मिले यही सत् पिता की पुत्री के प्रति एक मात्र कामना रहती है। पिता चिन्ता में मग्न था, किन्तु सत्यवती को संसार की संसारी बातों का कुछ पता ही नहीं था। वह पक्षी की तरह नौका में दोनों डांडों को इतनी शीघ्रता से चलाती थी, मानों जल में कोई पक्षी उड़ा जा रहा हो। गंगाजी की धारा में वह निःशंक होकर राजहंसिनी के समान तैरती। घाट पर पालतू हरिनी के समान एकाकी इधर से उधर फुदकती फिरती। वह गंगा के पावन पुलिनों में थक कर लेट जाती और गुनगुनाती हुई कुछ गाने लगती। निभृत निकुंजों में बैठ कर वह पक्षियों के साथ खेलती। उसका अल्हड़ स्वभाव और भी अधिक अल्हड़ हो गया। उसे ऐसा लगने लगा कि उसका मन कुछ अव्यक्त भाषा में कोई नवीन बात कहना चाहता है, किन्तु वह उसकी भाषा समझने में अपने को असमर्थ पाती। वह फिर खेलने कूदने लगती। अपनी छोटी सी सुन्दर नौका, दो उसके डांड़ और गंगाजी, ये ही उसके मनोरंजन तथा दैनिक व्यापार के साधन

थे। गङ्गाजी के इस पार से उस पार, यही उसका संसार था। गङ्गा किनारे फूँस की कुटिया, यही उसकी सम्पत्ति थी और बूढ़ा पिता, यही उसका समस्त परिवार था।

ग्रीष्म ऋतु प्रस्थान तो कर गई थी, किन्तु अभी उसकी प्रखरता शेष थी। यद्यपि वर्षा आ चुकी थी, किन्तु अभी वह बालिका ही थी। भगवान् भुवन भास्कर अपनी तीक्ष्ण किरणावलियों से लोक को तप्त करते हुए अस्ताचल की ओर द्रुत गति से प्रस्थान कर रहे थे। मरीचमाली का मुख म्लान सा हो रहा था। क्षीण तेज पूर्णिमा का चन्द्र बहुत ध्यान देने पर मटमैला सा धूलि से लिपटा हुआ सा निष्प्रभ दिखाई देता था। उसी समय घाट पर पराशर मुनि आये। निषादराज ने मुनि की पूजा की, यथोचित आदर सत्कार किया। मुनि ने शीघ्रता से कहा—"मैं पार जाऊँगा।"

हाथ जोड़े निषाद ने कहा—"भगवन्, आज यहीं विश्राम करें, कल सुखपूर्वक पार हों। इस समय पार जाने की वेला नहीं है।"

"नहीं मैं तो जाऊँगा ही।" ऋषि के वाक्य में दृढ़ता थी। ऋषि का निश्चय समझ कर वृद्ध निषदने कहा—"बेटी! ऋषि को पार पहुँचा आ।"

अपने पिता की आज्ञा पाते ही, उसने नाव खेने की दोनों लोहे की बघौड़ी उठाईं, उन्हें छिद्रों में यथा स्थान लगाया। उनमें पंख के समान दो डाँड़ लगाये और वह नौका को किनारे के समीप खींच लाई। तट से सटाकर काठ का जो मंच बँधा था, उससे उसने नौका को सटा दिया। ऋषि उस मंच से उतर कर नौका में बैठ गये। सत्यवती ने डाँड़ खेना आरंभ

कर दिया। गंगाजी के प्रबल वेग को चीरती हुई वक्र गति से नौका प्रवाह की ओर ही बहने लगी। सत्यवती जोर लगा

कर उसे प्रवाह के प्रतिकूल खेना चाहती थी। बहुत जोर लगा कर शीघ्रता से डांड़ों को खेते-खेते वह दुहरी हो जाती, उसके मुख मंडल पर गहरी अरुणिमा छा जाती। श्रम के कारण

उसके मुख मंडल पर पसीने के विन्दु छा गये। वे स्वेद के नन्हें-नन्हें कण उसके ललाट और मुख पर ऐसे प्रतीत होते थे मानों खिले हुए कमल पर किसी ने मोती बिखेर दिये हों। ऋषि एक टक भाव से उसी की ओर देखने लगे। उसकी फुर्ती, हस्तलाघव और पटुता के कारण मुनि मन ही मन मुग्ध हो रहे थे। उन्होंने कहा—"तुम्हें लोगों को पार उतारने में बड़ा श्रम करना पड़ता है, क्यों ?"

"क्या करें, भगवन्! यही तो हमारा पैतृक धंधा ठहरा—" नौका चलाते-चलाते ही सरलता के साथ सत्यवती ने मुनि से कहा।

"इसी तरह इस पार से उस पार कै बार तुम्हें आना-जाना पड़ता है ?" यह व्यर्थ का प्रश्न मुनि ने क्यों पूछा इसे वे ही जानें।

"इसकी कोई गणना नहीं। दस बार, बीस बार जब भी यात्री आ गये, तभी आना पड़ता है," बिना सोचे ही उसने उत्तर दिया।

मुनि थोड़ी देर चुप रहे। फिर कुछ सोच कर बोले—"श्रम बहुत परिणाम थोड़ा। यद्यपि तुम लोगों को पार उतारती हो, किन्तु क्या हुआ ? इस पार की पृथिवी पर से ले जाकर उस पार की पृथिवी पर छोड़ दिया, उस पार वाले को इस पार की पृथ्वी पर उतार दिया। यह तो कुछ पार होना हुआ नहीं। मैं तुम्हें एक ऐसा पुत्र प्रदान करूँगा जो लोगों को सदा सर्वदा के लिये संसार सागर से पार उतारता रहे।"

पुत्र का नाम सुनते ही लज्जा के कारण लड़की का मुख लाल पड़ गया। उसने नौका खेना छोड़ दिया और दोनों हाथों

की अंजलि बाँधे हुए उसने भयभीत स्वर में कहा—"प्रभो! दीनबन्धु! आप यह क्या कह रहे हैं! मैं तो कुमारी हूँ, अपने पिता के अधीन हूँ। कुमारी के पुत्र कैसा?"

ऋषि उसे इस प्रकार भयभीत देखकर सान्त्वना देते हुए बोले—"देखो, तुम घबड़ाओ मत! हमारा वाक्य अमोघ होता है, वह व्यर्थ नहीं होता। हमारे तप के प्रभाव से तुम्हारा कन्याभाव दूषित न होगा, वह ज्यों का त्यों बना रहेगा।"

थर-थर काँपती हुई बालिका ने कहा—"हे सर्वसमर्थ मुने! कन्याभाव न भी दूषित हो, तो लोकापवाद तो होगा ही।"

मुनि ने गभीरता के स्वर में कहा—"तुम्हारा पुत्र भगवान् का अंशावतार होगा। उसको पाते ही तुम्हारा सभी लोकापवाद दूर हो जायगा। तुम यशस्विनी और जगत्वन्द्य लोकमाता कहलाओगी।"

सत्यवती की दोनों हाथों की अंजलि बँधी हुई थी। नौका अपने आप ही प्रवाह में बहती-बहती गंगा जी के बीच के एक टापू में लग गई। मुनि ने उसी द्वीप में गर्भाधान संस्कार किया। उन महर्षि का प्रभाव अमोघ था, उनकी शक्ति अपरिमित थी। वे सत्य संकल्प थे। उसी क्षण उसी द्वीप में भगवान् वेदव्यास जी का अवतार हुआ! उनके जन्म के समय आकाश से देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की, गन्धर्वों ने नगाड़े बजाये, स्वर्ग की अप्सराओं ने नृत्य किया और अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले सिद्ध, तपस्वी, ऋषि मुनियों ने साधु-साधु, जय-जय शब्द किया।

व्यास जी के शरीर का वर्ण, अलसी पुष्प के समान कृष्ण वर्ण का था, इसलिये उनका नाम कृष्ण हुआ। द्वीप में उत्पन्न

होने से वे द्वैपायन कहाये। वेदों का व्यास करने से सब लोग इन्हें 'वेदव्यास' कहते हैं। इस प्रकार वेदव्यास भगवान् कृष्ण द्वैपायन का प्राकट्य हुआ।

उत्पन्न होते ही उन्होंने अपनी माता से हाथ जोड़कर कहा—"माता! मेरी रुचि तपस्या में है। आपकी आज्ञा हो तो मैं तपस्या के लिये गन्धमादन पर्वत पर चला जाऊँ।"

अपने तेजस्वी, अलौकिक आभा सम्पन्न, दिव्य पुत्र के मुख से ऐसी अद्भुत बात सुनकर माता का हृदय भर आया। उन्होंने उनका मुख चूमा, छाती से लगाकर प्यार किया और अत्यन्त स्नेह प्रकट करती हुई बोली "तुम्हारे पिता ने मुझे पहिले ही बताया था कि तुम किसी माता पिता के मोह बन्धन में न फँसोगे। यही नहीं, संसार में फँसे हुए प्राणियों का तुम उद्धार करोगे। उन्हें भवसागर से पार उतारोगे। जाओ बेटा! सुख से जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। चूहे का पुत्र बिल ही खोदेगा। तपस्वी का पुत्र तपस्या में ही मन लगावेगा। मंगलमय श्रीहरि तुम्हारा मंगल करें। वन के देवी देवता तुम्हारी रक्षा करें। भगवती गंगा तुम्हारी माता के समान रक्षा करें। देवी सरस्वती तुम पर वात्सल्य स्नेह प्रकट करें। तुम्हें मैं मोह बन्धन में फँसाना नहीं चाहती, किन्तु जाते समय मुझे एक वरदान दे जाओ। मैं जब भी तुम्हें स्मरण करूँगी तभी तुम सब काम छोड़ मेरे पास चले आना।"

हाथ जोड़ कर व्यासजी ने कहा—"मा! मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य है। आप जब भी जहाँ भी जिस दशा में

भी मुझे स्मरण करेंगी मैं अपने योगबल से उसी समय समझ कर तुरन्त आपकी सेवा में उपस्थित हूँगा।" इतना कह कर और अपनी जननी की चरण वन्दना करके भगवान् व्यास देव गंधमादन पर्वत पर भगवान् नर नारायण के सान्निध्य में सम्याप्रास नामक स्थान में घोर तपस्या करने लगे।

इस प्रकार भगवती वासवी सत्यवतीदेवी को भगवान् व्यास की जननी होने का जगत् वन्द्य पद प्राप्त हुआ। मछली के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण पहिले इनके अंग से सदा मछली की उत्कट गंध आती थी। इसलिये इनका नाम मत्स्य-गंधा भी था। भगवान् पराशर के प्रताप से वह गंध मिट कर उनके अंग में नवीन कमलों की सी दिव्य सुगंध आने लगी। वह सुगंध एक योजन तक जाती थी, इसीलिये इनका नाम 'योजन गंधा' भी प्रसिद्ध हुआ। पीछे इनका विवाह भीष्म पितामह के पिता महाराज शान्तनु के साथ हुआ जिनके वीर्य के द्वारा इनके गर्भ से चित्राङ्गद और विचित्र वीर्य इन दो पुत्रों का जन्म हुआ जो भरतवंश के बढ़ाने वाले हुए।

यही भगवान् व्यास के जन्म की परम रहस्यमयी कथा है। भगवान् वशिष्ठ ब्रह्माजी के मानस पुत्र थे। वशिष्ठजी के पुत्र शक्ति हुए। शक्ति के पराशर और पराशर के वीर्य से सत्यवती में इन भगवान् व्यास का अवतार हुआ। इसीलिये ये पाराशर कहाये, वाशिष्ठ कहलाये। ये अचतुर्मुख ब्रह्मा हैं। दो भुजावाले साक्षात् विष्णु ही हैं और एक कम तीन नेत्र वाले साक्षात् शंकर स्वरूप ही हैं। ये ही सम्पूर्ण ज्ञान

के दाता हैं। समस्त ज्ञान व्यासोच्छिष्ट कहा जाता है। उन अपने गुरु के भी गुरु—परम गुरु भगवान् व्यासदेव जी के पाद पद्मों में मेरा कोटि-कोटि प्रणाम हैं इतना कहते-कहते सूत जी का गला भर आया और वे व्यास जी की स्मृति करते-करते ध्यान मग्न हो गये।

छप्पय

कमल पंकते होय, काक विष्ठा ते पीपर।
मृग-मद मृग की नाभि मांस मेदाके भीतर॥
मोती उपजे सीप शंख हड्डी ही होवे।
वाघ पाइके चर्म अशुचिता अपनी खोवे॥

गुणी गुणनि ते पूज्य हैं, क्षेत्र परीक्षा नहीं कही।
व्यास विष्णु भगवान हैं, मतृवंश त्रुटिनहिं लही॥

— ० —

श्री वेदव्यास जी की चिन्ता

(१५)

धृतव्रतेन हि मया छन्दांसि गुरवोऽग्नयः ।
मानिता निव्यलीकेन गृहीतं चानुशासनम् ॥
तथाऽपि बत मे दैवो ह्यात्मा चैवात्मना विभुः ।
असम्पन्न इवाभाति ब्रह्मवर्चस्यसत्तमः ॥[१]

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० २८-३० श्लोक)

छप्पय

बदरी बनमें बसैं कसैं तनु व्यास महामुनि ।
नित्य हवन करि वेद, शास्त्र इतिहास पढ़े पुनि ॥
ऋक, यजु, साम, अथर्व, एक के चारि बनाये ।
चारों शिष्य बुलाइ, वेद क्रम यथा पढ़ाये ॥

शूद्र, नारि, व्रतहीन द्विज, हित भारत रचना करी ।
तऊ शान्ति मन नहिं लही, अन्तरात्मा नहिं भरी ॥

बाहिर से नेत्र बंद करने पर ही भीतर के दर्शन होते हैं। बाह्य विषयों से चित्त हटाने पर ही परब्रह्म में वृत्ति की एक तानता होती है। अपने शरीर की असुविधाओं को सह कर ही

---

१ भगवान् व्यासदेव अपने मन में तर्कना कर रहे हैं—"मैंने निष्कपट भाव से समस्त नियमों का पालन किया है। वेद, गुरुजन

दूसरों को सुविधा पहुँचाई जा सकती है। श्रीकृष्ण गुणगान से ही शाश्वत शान्ति की उपलब्धि होती है। धर्म कर्म से यश ऐश्वर्य्य, लक्ष्मी की ही प्राप्ती होती है, किन्तु भगवान् वासुदेव के पाद पद्मों में की हुई भक्ति तो प्राणियों को कृत-कृत्य कर देती है। फिर मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। फिर उसे निर्वेद करने का अवसर ही नहीं मिलता। वह तो आनंद सागर में मग्न हो जाता है। जो जप, तप, यज्ञ, पूजा, पाठ, दान, धर्म तथा और भी समस्त शुभ कर्म भक्ति से विहीन हैं, वे सब व्यर्थ हैं। उनका फल लौकिक या दिव्य सुखों का भोग मात्र ही है।

भक्ति पूर्वक किया हुआ तप अन्तःकरण को विशुद्ध बना देता है। उसमें भगवान् के दर्शन होने लगते हैं। नन्द नंदन उसमें आकर विराज जाते हैं और उनका प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। श्रीहरि के हृदय में उदय होते ही अज्ञान अंधकार मिट जाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी उलूक उड़ जाते हैं। यही सब सोच समझ लोक शिक्षा के निमित्त भगवान् व्यासदेव अपनी जननी से आज्ञा लेकर गंधमादन पर्वत पर चले गये। जहां पर आकल्पान्त निवास करते हुए भगवान् नर नारायण घोर और मृदुतप कर रहे हैं।

बदरीवन में जहाँ देव सरिता सरस्वती का भगवती अलकनन्दा के साथ संगम हुआ है, उसे केशवप्रयाग कहते हैं। उसके उत्तर की जो भूमि है उसी का नाम "सम्याप्रास है।

और अग्नियों की सम्मान पूर्वक सेवा की है, उनकी आज्ञाओं को माना है, तो भी मेरा ब्रह्मतेजःसम्पन्नों में सर्वश्रेष्ठ मेरा देहाभिमानी आत्मा असन्तुष्ट सा क्यों है, मुझे कुछ खटका क्यों बना हुआ है?

उसी स्थान पर पर्णकुटी बना कर भगवान् व्यास तपस्या करने लगे। तपस्या करते-करते उन्हें बहुत दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन जब भगवान् भुवन भास्कर अपनी सुख कर किरणों से उदित होकर जगत् को आलोकित करने लगे, तो उसी समय भगवान् व्यास केशवप्रयाग पर गये। पुण्यतोया सरस्वती अत्यंत वेग से अपनी बहिन अलकनंदा से मिल रही थीं। दोनों का ही हृदय द्रवीभूत हो रहा था। दोनों की ही आँखों से मानों अश्रुओं की झड़ी लग रही हो। दोनों के प्रेमाश्रुओं के कण उड़-उड़ कर किनारे पर आ रहे थे। व्यास जी ने उन दोनों के संगम को देखा। क्षितिज में भगवान् सहित खिल-खिला कर हँस रहे थे। उनके हास्य के कारण उनकी शुभ्र दन्तावली से कमनीय किरणें निकल कर हिमाच्छादित पर्वत-शृंगों को स्पर्श कर रही थी। इससे उनका हृदय भी द्रवित होकर बह रहा था। प्रकृति शान्त थीं, नीरव स्थान था, पुण्य भूमि थी, शीत के कारण अंग सिकुड़ रहा था। इस कारण मरीचिमाली भगवान् दिवाकर की किरणें अत्यंत ही सुखकर प्रतीत होती थीं। ब्रह्मद्रव के समान अत्यंत सुशीतल सरस्वती जल से काँपते-काँपते मुनि ने आचमन किया और वे वहीं ध्यान मग्न हो कर बैठ गये। उन्होंने देखा, लोगों की प्रवृत्ति अधर्म की ओर बड़े वेग से बढ़ रही है। समस्त दिव्य शक्तियों का ह्रास हो रहा है। लोग बड़े नास्तिक श्रद्धाहीन हो गये हैं। उनका वेद, ब्राह्मण और परलोक का विश्वास ढीला हो रहा है। वे पुरुषार्थ से भी हीन हो गए हैं। पहिले युगों का सा बल पराक्रम अब लोगों में नहीं रहा। उनकी बुद्धि मलिन हो गई है, सभी पापाचरण में प्रवृत्त हो रहे हैं। बहुत से अकाल में

ही काल के कवल बन रहे हैं। वे भाग्यहीन सदाचार हीन होकर दुष्कर्म करने लगे हैं।

आप कहेंगे, 'क्यों जी !' वहाँ तो कोई था ही नहीं। संसारी लोगों का तो वहाँ अभाव था, उस स्थान पर तो सभी धर्माचरण करने वाले तपस्वी ऋषि ही थे। उस विजन वन में मुनि ने मनुष्यों की ऐसी दुर्दशा कैसे देखी ?' अजी, उन्होंने बाह्य चक्षुओं से थोड़े ही देखी। ध्यान में दिव्य दृष्टि से उन्होंने यह सब अधर्म लीला देखी। अब तो मुनि का नवनीत के समान कोमल हृदय द्रवीभूत होने लगा। मानो सूर्य की किरणें उनके टटके माखन के गोले के समान अन्तःकरण को अपनी उष्णता से पिघला रही हों। लोगों का जिसमें हित हो वही बात मुनि सोचने लगे। उसी का ध्यान करने लगे।

क्यों जी, भगवान् का ध्यान छोड़ कर महामुनि लोकोपकार की चिन्ता क्यों करने लगे ? भगवान् ध्यान से प्रसन्न हुए चित्त को लोगों की चिन्ता से चिन्तित क्यों बनाने लगे ! क्या उन्होंने अच्युत-आराधना का परित्याग कर दिया ? अजी, छोड़ क्यों दिया, वे तो परमाराधन में तत्पर हुए। लोकों के ताप से तापित होना यही तो अच्युत की अत्युकृष्ट उत्तम आराधना है। परावरज्ञ प्रभु इसी से तो शीघ्र प्रसन्न होते हैं। अपने शरीर सुख के लिये तो सभी प्रयास करते हैं। पर दुःख से दुखी होकर उसे दूर करने की जो वासना है वही तो संसार वासना का मूलोच्छेदन करने में समर्थ होती है।

अब महामुनि लोक कल्याणकारक कार्य में प्रवृत्त हुए। पहिले उन्होंने वैदिक यज्ञों के विस्तार के निमित्त असंख्य ऋचाओं वाले पहाड़ के समान महान् एक वेद में से अत्यंत

उपयोगी ऋचाएं छाँट-छाँट कर छोटी-छोटी चार संहितायें बनाईं जिससे अल्प सत्व कम बुद्धि वाले ऋषि बालक उन्हें सरलता के साथ धारण कर सकें। उन ऋक्, यजु, साम और अथर्व नामक संहिताओं को अपने पैल, जैमिनी, वैशम्पायन और सुमन्तु नामक चार प्रिय शिष्यों को क्रम से अध्ययन कराया इतिहास पुराणों की रचना करके उन्हें द्विजेतर अपने शिष्य लोमहर्षण नामक मेरे पिता को पढ़ाया।

फिर भी महामुनि को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा आगे ज्यों-ज्यों कलियुग आवेगा त्यों-त्यों मनुष्यों की बुद्धि अल्प होती जायगी। वे एक वेद को भी धारण करने में समर्थ न होंगे, अतः उन्होंने प्रत्येक वेद की शाखायें बनाईं और वे विभिन्न गोत्रों के ऋषियों में बाँट दीं और आज्ञा देदी कि तुम पढ़ सको तो चारों वेदों को पढ़ना नहीं तो अपने वंश परम्परा के एक वेद को तो पढ़ना ही। यदि पूरे वेद को भी पढ़ने में समर्थ न हो तो अपनी शाखा को तो अवश्य ही पढ़ना। इस प्रकार उन मुनियों के पुत्र पौत्रों ने, शिष्य प्रशिष्यों ने उन शाखाओं को पढ़ कर वेदों का अध्ययन अध्यापन बनायें रखा जिन वेदों के द्वारा वैदिक यज्ञ याग और समस्त संस्कार होते हैं।

अब फिर भगवान् व्यास ने सोचा—द्विजातियों के लिये तो वेदों का विभाग हो गया। उन्हें तो वेदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जायगा। अपने यज्ञयागों को सभी संस्कारों को अक्षुण्ण बनाये रक्खेंगे। किन्तु जिन्हें वेदों के प्रत्यक्ष पढ़ने का अधिकार नहीं है, जैसे स्त्रियाँ हैं, शूद्र हैं, क्या वे ज्ञान से वंचित ही रहेंगे? उनकी शक्ति का भी तो कोई उपाय होना चाहिये; क्यों कि इनसे इतना शौचाचार हो नहीं सकेगा। सेवा के कार्य

भार से इनका गुरुकुल वास भी नहीं हो सकता। फिर शास्त्र की आज्ञा भी नहीं है, तो इन्हें बिना वेदों के पढ़े ही वैसा ही ज्ञान प्राप्त हो जाय, इसके लिये भी यत्न करना चाहिये। एक बात और भी है। आगे चल के द्विज भी संस्कारहीन हो जायँगे। षोडश संस्कारों के होने की बात कौन कहे, कलियुग के द्विजाति लोग १६ संस्कारों के नाम भी नहीं जानेंगे। वे संस्कारों से हीन शौच सदाचार से रहित, सन्ध्या अग्निहोत्र से शून्य केवल नाम मात्र के द्विज होंगे। वे अपने को द्विज भर ही कहेंगे। आगे अपने को द्विज कहने में भी लजावेंगे। शूद्र और अन्त्यज तथा मलेच्छों के साथ सभी प्रकार का संसर्ग करेंगे। इन सबका भी किसी तरह कल्याण हो ऐसा उद्योग करना चाहिये। कोई ऐसा ग्रन्थ निर्माण करना चाहिये कि उसमें वेद की सभी बातें आ जायँ। सम्पूर्ण ज्ञान का संग्रह एक ही स्थान पर हो जाय। पूरा न पढ़े तो जितना भी पढ़े उतना ही लाभप्रद हो। वह ग्रन्थ आख्यान और कहानियों में हो जिससे सब की प्रवृत्ति उसमें हो जाय। अनपढ़ नरनारी भी जिसे सुन कर याद कर लें और अपने बाल-बच्चों को सुनावें। इस प्रकार बिना पढ़े ही सुन कर उसका सर्वत्र प्रचार हो जाय।"

यही सब सोच समझ कर वेदव्यास जी ने महाभारत की रचना की। यह बहुत बड़ा ग्रंथ हुआ। तीनों लोकों में इसका प्रचार हुआ। करोड़ों श्लोकों में यह ग्रंथ बना। पृथ्वी पर इसके एक लाख श्लोकों का ही प्रचार हुआ। इस ग्रंथ के कारण सर्वत्र व्यासजी की प्रशंसा होने लगी। देवता, गन्धर्व सभी महाभारत की स्तुति में पद्य बना कर व्यास भगवान् की बड़ाई करने लगे। व्यास जी की विशाल बुद्धि की चारों ओर प्रसिद्धि हो गई और सब मुनियों ने मिलकर उन्हें धर्म के विषय

में प्रमाण भूत माना । व्यासजी कहदें वही धर्म है। सब शंकाओं का समाधान व्यासजी के वचन से ही होने लगा। विवाद के अवसरों पर इसी बात की खोज होती थी, कि इस पर व्यास जी का क्या मत है ? इस प्रकार 'महाभारत' की प्रतिष्ठा पंचम वेद के समान हुई।

इतना सब होने पर भी व्यासजी के मनको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपने को कृतकृत्य नहीं समझा। उनके मन में निर्वेद बना ही रहा। कोई कमी उन्हें खटकती ही रही।

कोई भी शुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष परिश्रम करके किसी कार्य को करता है, तो अन्य पुरुष उसकी प्रशंसा करते करते थकते नहीं। क्योंकि उसका कार्य लोकहित के लिये है। निष्काम परोपकार बुद्धि से किया हुआ कार्य सब को सुखप्रद होता ही है। किन्तु कर्ता को जिस से सन्तोष न हो, वह औरों के लिये परम लाभप्रद भले ही हो उसे सर्वश्रेष्ठ नहीं कह सकते। बहुत से मनुष्य अपने आपको ही भुलाना चाहते हैं, वे अन्तःकरण की उठी हुई सत्य प्रेरणा को भाँति-भाँति की युक्तियों से दबाने की चेष्टा करते हैं। मन को तरह-तरह की तर्कों के द्वारा सन्तोष कराना चाहते हैं। इस प्रकार वे सत्य से अपने को दूर हटाते जाते हैं, विवेक बुद्धि को दबाते जाते हैं। प्रत्येक कार्य के शुभाशुभ में सज्जन पुरुषों का अन्तःकरण ही प्रमाण माना जाता है। अपने आपको जिसमें सन्देह हो वह संशयप्रद कार्य्य है। अपने को जिससे सन्तोष हो वह सर्वश्रेष्ठ है। भले बुरे की परिभाषा मनीषियों ने ऐसी ही बताई है।

सम्मानित और प्रसिद्ध पुरुष अपनी वेदना को किसी पर प्रकट नहीं कर सकते। करें तो लोगों को विश्वास न हो। लोग

तो समझते हैं—ये अपनी श्रेष्ठता के कारण शिष्टाचार से ऐसा कह रहें हैं, नहीं तो ऐसे सर्वज्ञ महापुरुषों को भला किसी बात में सन्देह कैसे हो सकता है ? साधारण लोग तो हाँ-में-हाँ मिलाने वाले मुँह मीठी बात कहने वाले होते हैं। वे हमारी वेदना को समझ ही नहीं सकते। हां, जो अपने से बड़े हों और अपने हितैषी हों, उनके सामने अपनी मनोव्यथा प्रकट करने से वे हमारे भाव को समझ जाते हैं। स्नेह के कारण वे गंभीरता से उस पर विचार भी करते हैं और उसके मूल में जाकर इसका कारण भी सोचते हैं। किन्तु ऐसे वृद्ध हितैषी मर्म को समझने वाले सर्वत्र सुलभता से प्राप्त नहीं होते। जब तक ऐसे संशयच्छेत्ता नहीं मिलते तब तक हमें अपने मन से ही ऊहापोह करनी पड़ती है।

अब व्यास जी को यही चिन्ता बनी रहती, मेरे में कौन सी कमी रही गई। वे भगवती सरस्वती के तट पर विजन वन में चले जाते और चिरकाल तक एकान्त में यही सोचते रहते। वे बार-बार विचार करते—मेरी चिन्ता का, मेरी कमी का कारण क्या है ? मनुष्य पाँच ही कारणों से अपने को अकृतार्थ समझता है।

पहिला तो यह है, कि शुद्ध चित्त से बिना दिखावे के किसी नियम का जिसने पालन न किया हो। क्योंकि नियम पालन से हृदय में एक प्रकार की दृढ़ता आती है और आत्मा को सन्तोष होता है।

दूसरा कारण यह है कि विधिवत् वेदादि शास्त्रों का अध्ययन न किया हो। शास्त्रों के अध्ययन से सभी प्रकार के संशयों का नाश होकर मनुष्य व्यर्थ की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

तीसरा कारण यह है, कि पढ़तो लिये किन्तु गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा नहीं की। समस्त शास्त्रों की सार्थकता पूज्य पुरुषों की, गुरुजनों की, निष्कपट भाव से सेवा करने में ही है। जिसने श्रद्धा से अपने पूज्य पुरुषों की सेवा नहीं की वह जीवन भर सुखी नहीं होता। उन के मन में खटका बना हीं रहता है।

चौथा कारण यह है, कि अपने अग्निहोत्र सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्मों को जो सावधानी के साथ नहीं करता है। नित्य कर्मों के करने से जीवन एक व्यावस्था में रहता है। पाप कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती दुष्कर्मों से घृणा रहती है और हृदय में शुभकर्मों के प्रति आदर भाव उत्पन्न होता है।

पाँचवाँ कारण यह है, कि जिसने जीवन में कोई परोपकार न किया हो। परोपकार से देहात्मबुद्धि दूर होती है। सब के दुःख सुख को समान समझने की शक्ति बढ़ती है। तथा सब जीवों में अनेक रूपों से एक ही आत्मसत्ता व्याप्त हो रही है, इसका भी ज्ञान होता है। समस्त प्राणियों के रूप में मेरे इष्टदेव ही क्रीड़ा कर रहे हैं। जनता के रूप में जनार्दन ही विद्यमान हैं। इस भावना से किया हुआ परोपकार मुक्ति के मार्ग का प्रदर्शक बन जाता है। यही अखिलात्मा प्रभु की सब से श्रेष्ठ उपासना है।

मैंने इन पांचों कर्मों को यथा शक्ति किया है। ब्रह्मचर्य के समस्त नियमों का मैंने विधिवत् पालन किया है। वेदों को पढ़ा है, पढ़ाया है, उनका यथामति संक्षिप्त संकलन किया है। चार भागों में विभक्त किया है। गुरुजनों की भी यथाशक्ति श्रद्धा के सहित सेवा की है। अग्निहोत्र आदि कार्य भी नियमानुसार नित्य करता ही हूँ।

मैंने द्विजातियों के लिये ही पक्षपात किया हो सो भी नहीं। स्त्री, शूद्र तथा अन्य सभी के लिये मैंने महाभारत की भी रचना की है, जिसमें ऐसा कोई ज्ञान, ऐसी कोई बात नहीं छोड़ी जो वहाँ न हो। एक उसी ग्रन्थ में समस्त वेदों का समस्त शास्त्रों का सार तत्त्व भर दिया है। इतना सब करने पर भी मेरा देहाभिमानी जीव कुछ मन में असन्तुष्ट सा है। यह भी बात नहीं कि मुझे ब्रह्मज्ञान न हो, मैं समस्त ब्रह्म तेज से सम्पन्न भी हूँ। इसका कुछ कारण मेरी समझ में नहीं आता। मनुष्यों के करने योग्य सभी काम मैंने किये हैं। वर्णाश्रम धर्म का स्वयं भी विधिवत् पालन किया है और संक्षेप और विस्तार के साथ सब के धर्मों का भी वर्णन किया है। ब्राह्मण से लेकर चांडाल पर्यन्त सभी के लिये मैंने कुछ न कुछ किया है। सभी के कर्तव्यों का कथन किया है। कौन सी बात मुझसे रह गई, जिसके कारण मेरे मन में खटका बना हुआ है। जैसे दाँतों में कोई भी वस्तु अटकी रह जाय तो जिह्वा बार-बार उसी की ओर जाती है उसी को कुरेदती हैं। मेरा भी मन किसी अटकी हुई बात को कुरेद रहा है। जब तक वह न निकलेगी मेरे मन में शाश्वती शान्ति न होगी।

एक सन्देह मुझे हो रहा है यह जो कर्मों का आग्रह है, गृहस्थ धर्म की अत्यधिक प्रशंसा हैं, पुत्र प्राप्ति आदि का जो अत्यन्त आग्रह है ये बातें प्रायः विरक्त भगवत् भक्त परमहंसों को विशेष रुचिकर नहीं। उन्हें तो एकमात्र भक्त और भगवत चरित्र ही अत्यंत प्रिय हैं। भागवतों के धम ही उनके जीवनाधार हैं। क्योंकि वे भगवान् के प्रिय हैं और भगवान् को भी अपनी ही चर्चा प्यारी लगती है। "अपनी स्तुति किसे प्रिय नहीं लगती।"

मुझे ऐसा लगता है उन परमहंसों की सन्तुष्टि नहीं हुई। यद्यपि मैंने भगवत् चरित्रों का भी वर्णन महाभारत में किया है। पुराणों में भागवत धर्म का भी निरूपण किया; किन्तु कुछ त्रुटि अवश्य रह गई, नहीं तो मेरा मन बार-बार मुझे इस तरह टोंचता नहीं।

इसी सोच विचार में व्यासजी बैठे रहे, अपनी चिंता का कारण निश्चित न कर सके।

छप्पय

पाराशर्य प्रवीण परम चिन्तित चित होकर।
सोचें—मैंने पढ़े वेद तनु के सुख खोकर॥
गुरु सुश्रूषा करी अग्नि अव्यय अराधी।
करी तपस्या उग्र ग्रीष्म पंचानल साधी॥

वेद-व्यास इतिहास रचि, पुण्य पुराण कथा कही।
चिन्ता चित ते नाहिं गई, कछू खटक खटकति रही॥

व्यासाश्रम पर श्री नारदजी

(१६)

तस्यैवं खिलमात्मानं मन्यमानस्य खिद्यतः ।
कृष्णस्य नारदोऽभ्यागादाश्रमं प्रागुदाहृतम् ॥१

(श्री भा० १ स्क० ४ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

बदरीवन के निकट बिराजें मुनिवर ज्ञानी ।
वेद-व्यास इतिहास रचे पुनि शान्ति न मानी ॥
चिन्ता चित में चुभी म्लानता मुख पर आई ।
रही कौन सी कमी आतमा अति अकुलाई ॥

इतने में वीणा लिये, राम कृष्ण गुण गावते ।
नारद देखे आवतें, प्रेम वारि बरसावतें ॥

मनुष्य जब अपनी कथा का कारण बाहिर खोजता है, तो बाहिर तो इन्द्रियों के विषय ही हैं, जिनका परिणाम विष के समान प्राणान्तक ही है। जो लोग अपनी चिन्ता को अपने भीतर ही विचारते हैं, जो बाहिर से दृष्टि हटाकर अन्तरात्मा

---

१ इस प्रकार भगवान् व्यासदेव अपने आप को हेय मानकर खेद कर ही रहे थे कि उनके पूर्वोक्त आश्रम पर भगवान् नारद जी आ पहुँचे।

से पूछते हैं, तो उसी समय समस्त प्राणियों के मन की जानने वाले, मन के अधिष्ठातृ देव नारद जी आकर उनकी समस्त शंकाओं का समाधान कर देते हैं।

व्यास जी सरस्वती के किनारे केलाओं की कुंज से आवृत्त अपने स्थान में चिन्तामग्न बैठे थे। शिष्यों ने प्रातः कालीन अग्निहोत्र समिधाधान विधिवत् सम्पन्न किया था। आश्रम की गायें दुह कर वन में चरने को छोड़ दी गई थीं। शिष्यगण सस्वर ब्रह्मघोष कर रहे थे, किन्तु व्यास जी के मन में वही एक चिन्ता लगी हुई थी। सहसा क्या देखते हैं, कि उनके कानों में तन्त्री की सुमधुर झंकार सुनाई दी। साथ ही प्राणों को प्रसन्नता प्रदान करनेवाले श्रीहरि के सुमधुर नामों का संकीर्तन भी सुनाई दिया। दृष्टि उठा कर देखते हैं, तो सामने मुस्कराते हुए भगवान् नारद जी खड़े हैं। मानों ये नूतन जलधर मेघ के समान इन्द्रधनुष और विद्युत् के सहित आकाश से प्रेम वारि बरसाते हुए व्यास जी पर कृपा करने को साकार शरीर से उतर आये हों। अपने सामने देवर्षि नारद जी को स्वरब्रह्ममयी वीणा को बजाते देखकर व्यास जी बड़ी शीघ्रता से संभ्रम के साथ सहसा उठ खड़े हुए। उन्होंने श्रद्धा सहित देवर्षि का स्वागत किया। सुंदर सुखप्रद आसन पर उन्हें बिठाया। शिष्यों से शीघ्र ही अर्घ्य का सामान लाने को कहा। सुगंधित गरम जल से देवर्षि के पाद-प्रक्षालन किए। दूध, दही, शहद, अक्षत, सफेद तिल, कुश, दूर्वा, पुष्प, चंदन मिश्रित जल से उन्होंने भक्ति सहित अर्घ्य दिया। सरस्वती जल से आचमन कराया। मंत्र स्नान करके उन्होंने वल्कल वस्त्र, अपने हाथ का बना यज्ञोपवीत अर्पण किया। अंगों में सुगंधित चंदन लगाया। बदरी वन में ही उत्पन्न होने वाली सुगंधित धूप जलाकर सामने

रखी। घृत का दीपक दिखाया। अच्छे सुन्दर सुस्वादु कंदमूल फल ऋषि के आगे भेंट किये। आरती की, और दोनों हाथों की अंजलि बाँधकर पुष्पाञ्जलि ऋषि के चरणों में अर्पण की। नाना स्तोत्रों से उनकी स्तुति की। व्यासजी की की हुई शास्त्रोक्त पूजा को नारद जी ने शास्त्रविधि से ही स्वीकार किया। पूजा के अनन्तर परस्पर में कुशल प्रश्न हुआ। नारदजी ने व्यास जी के आश्रम के वृक्षों की, शिष्यों की, गौओं की, अग्नि की, समीपस्थ मुनियों की, उनके शरीर की कुशल पूछी। उत्तर में भगवान् व्यास ने सब की कुशल बताई और मुनि से इस प्रकार नम्रता के साथ कहने लगे—"प्रभो! आज आपने अपने देव दुर्लभ दर्शनों से मुझे कृतार्थ बना दिया। आज मैं धन्य हुआ, मेरी तपस्या सफल हुई, मेरा वेदाध्ययन, गुरुओं और अग्नि की सेवा सार्थक हुई, जो भगवान् ने स्वयं कृपा करके इस आश्रम को अपनी पदधूलि से पावन बना दिया। दीन-बन्धो! मैं अब यह जानना चाहता हूँ, कि इस समय भगवान् का शुभागमन कहाँ से हुआ है?"

नारद जी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"हे मुनि श्रेष्ठ! मैं ब्रह्मलोक से इन्द्रलोक होता हुआ, वरुणलोक में गया था। वहाँ से श्वेतद्वीप चला गया। वहीं से मेरी इच्छा श्रीनर-नारायण के दर्शनों की हुई, इसीलिये बदरीश के दर्शन करता हुआ मैं तुम्हें देखने यहाँ चला आया। मैं जिस लोक में भी गया, सर्वत्र तुम्हारी प्रशंसा सुनी। ब्रह्माजी कह रहे थे, कि व्यासजी ने महाभारत की रचना करके एक अद्भुत कार्य किया है। देवलोक में भी तुम्हारे महाभारत की ही चर्चा थी। गन्धर्व और विद्याधरों के तो छोटे-छोटे बच्चों ने भी उसकी कथायें रट ली हैं। इस प्रकार तुम्हारी कृति का सर्वत्र आदर

देखकर मेरे रोम-रोम खिल उठे। मैं तुम्हें बधाई देने को ही आया था, किन्तु यहाँ आकर दूसरी ही बात देख रहा हूँ! मुझे प्रतीत होता है तुम्हारा मन स्वस्थ नहीं है। चित्त में कोई चिन्ता व्याप्त है, अन्तरात्मा किसी कमी का अनुभव कर रही है। मुख तो मानसिक विचारों का दर्पण है। मन में जैसे विचार उठेंगे, वैसे ही भाव मुख पर व्याप्त हो जायँगे। मैं देख रहा हूँ, तुम्हारा मुख म्लान हो रहा है, चित्त में चंचलता प्रतीत हो रही है। इसका क्या कारण है? इसे तुम मुझे बताओ।"

व्यास जी ने कहा—"भगवान् जो कह रहे हैं, सत्य ही है। इसका कारण स्वयं मुझे पता नहीं।"

नारद जी ने कहा—"देखो, मनुष्य अपने को अकृतार्थ दो ही कारणों से समझता है, या तो वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाय या उसके द्वारा कोई परोपकार का कार्य न हो सका हो। तुम्हारे सम्बन्ध में ये दोनों ही बातें नहीं है। तुम अपने कर्तव्य में सदा सावधानी के साथ तत्पर रहते हो अपने कर्तव्य कर्मों का यथावत् पालन करते हो। परोपकार करना तो आपके जीवन का व्रत ही है। आपने वेदों का व्यास किया। पुराणों की रचना की और वेदों के ही समान पंचम-वेद महाभारत की रचना की। उसका सभी ने आदर किया, सभी ने प्रशंसा की। आपकी कीर्ति ब्रह्मांड में व्याप्त हो रही है उसे बनाकर भी आप इतने चिंतित क्यों हो रहे हैं? आप अपने मन की बात मुझसे कहें, आप जैसे ज्ञानी पुरुषों को ऐसी चिंता शोभा नहीं देती। आप तो ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मतत्व के वक्ता और व्याख्याता हैं। आपके द्वारा दूसरों की चिंतायें दूर होती हैं।"

व्यास जी ने दोनों हाथ जोड़ कर सिर झुकाते हुए बड़ी नम्रता से कहा—"भगवन्! आपने जो कहा है, सब सत्य ही है। मैंने यथाशक्ति अपने समस्त कर्तव्यों का पालन किया है। समस्त शक्ति लगा के सभी वर्ण सभी आश्रमों का अत्यन्त हित हो, इस बुद्धि से मैंने महाभारत की रचना की। मैंने सोचा इसे रच कर मेरी सभी जिज्ञासायें जाती रहेंगी। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा। किन्तु प्रभो! आप से क्या छिपाना। महाभारत को रच कर भी मुझे शान्ति नहीं मिली! मन में एक खटक बनी ही रही। किसी कमी का अनुभव मैं अब भी कर रहा हूँ। मन बार बार कहता है, 'अभी कुछ शेष है कुछ तुम से छूट गया है।' सो, प्रभो! आपही बतावें, मुझ से क्या छूट गया है? किस कारण मेरा मन प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर रहा है?"

व्यास जी की बात सुनकर नारद जी हँसे, उठ कर उन्होंने व्यास जी को गले लगाया और बड़े ही स्नेह के साथ कहने लगे—"व्यास जी! तुम धन्य हो। सचमुच आप भगवान् के अवतार हो। यह बात तुम्हारे ही अनुरूप है। साधारण लोग तो अपने अंतःकरण की वाणी को दबाने की चेष्टा करते हैं। जहाँ लोगों ने उनकी तनिक सी प्रशंसा की, कि वे अपने आप को भूल जाते हैं। अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लगते हैं। इसी भाव से उनकी उन्नति रुक जाती है, फिर वे आगे बढ़ नहीं सकते। जो अपने अन्तःकरण की वाणी को बार बार सुन कर उस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं संसार में वे ही महापुरुष और प्रातःस्मरणीय होते हैं। आप उन्हीं में से हैं। आप की कमी का मुझे पता है।"

हाथ जोड़े हुए व्यास जी ने कहा—"महाराज जी! आप से भला क्या छिपा है? किसी के मन की बात को जान लेना

तो साधारण सी बात है। आप तो समस्त गुह्य से गुह्य विषयों का भी ज्ञान रखते हैं। गूंगे की भाषा को या तो गूंगे ही समझते हैं या उसके समीप के रहने वाले भी समझ लेते हैं। उन परात्पर प्रभु की भाषा मौन के द्वारा ही वे सब प्रकट करते हैं और मननशील मौनी मुनि ही उनकी बातें समझते हैं। वैखरी वाणी बोलने वाले व्यक्ति उन विश्वेश्वर की बात भला कैसे समझ सकते हैं? आपने उन पुरुषोत्तम परमात्मा की उपासना की है, सेवा की है, जिनके लिये भूत, भविष्य, वर्तमान कुछ भी नहीं हैं, जो कालों के भी कलयता हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय उनके नित्य के विनोद हैं। उनकी भक्ति पूजा करने वाले को कौन सी बात दुर्ज्ञेय हो सकती है।

मेरी जैसी स्थिति है, आपके सम्मुख है, आपसे कुछ दुराव तो है नहीं। दुराव करें भी ती आपसे हो नहीं सकता क्योंकि आपतो प्राणवायु के समान सभी के भीतर बाहिर समान रूप के विराजते हैं। सभी के अन्तःकरण की बातें जानते हैं। आपकी लोकों में समान गति है। वैकुंठ से लेकर रसातल तक सभी में आप स्वेच्छा से विचरते रहते हैं। सूर्य के समान, अग्नि, वायु, जल आदि पंच भूतों के समान ब्रह्मांड में सर्वत्र आपकी अव्याहत गति है। हे भगवान्! आप मेरे इस कांटे को निकाल दीजिये। आप ही कृपा करके बता दें कि मुझमें कौन सी त्रुटि है? आपने शिष्टाचार के नाते मेरी बड़ी प्रशंसा की है, कि तुम योग समाधि के द्वारा परमब्रह्म का ज्ञान रखते हो। स्वाध्याय, व्रत, नियम अग्नि और गुरु सुश्रूषा द्वारा शब्द ब्रह्म का भी मर्म जानते हो। यह सब सत्य होने पर भी मन में शांति नहीं है। वह आपके उपदेश से ही प्राप्त हो सकती है। सो, हे सर्वज्ञ! जिस कार्य से मुझे शान्ति मिले उसे बता-

इये। जिस मार्ग से जाने पर मुझे परमानन्द की प्राप्ति हो उसका उपदेश मुझे कीजिये क्योंकि संसार में मुँह मीठी बात कहने वाले, प्रशंसा करने वाले तो बहुत होते हैं। हितकारक, सत्य और सुखप्रद उपदेश कोई अपने अत्यंत हितैषी ही कहते हैं। आपसे बढ़ कर मेरा हितैषी संसार में कौन होगा ?"

नारद जी व्यास जी की विवेचना से बड़े प्रसन्न हुए और बोले—"अच्छा, व्यास जी ! आपने इतने प्रेम से पूछा ही है, तो मैं आपके सम्मुख कहता हूँ, सुनिये।"

नारद जी को प्रसन्नता पूर्वक उत्तर देते देख कर भगवान् व्यासदेव के मन में अत्यंत ही प्रसन्नता हुई। वे बड़ी श्रद्धा भक्ति के साथ एकाग्र मन से नारद जी के मुख से निसृत उपदेश रूपी अमृत का अत्यंत पिपासु की भांति बड़ी उत्सुकता के साथ पान करने लगे।

सूत जी बोले—"हे ऋषियो ! भगवान् नारद जी ने जो उपदेश व्यासजी को किया, जो उनकी त्रुटि बताई, उसे मैं आपके सम्मुख निवेदन करूँगा। यही भगवत् भक्तों का सार सिद्धान्त है। जो इस लोक, स्वर्गादि, परलोक के सभी इन्द्रिय जन्य सुखों की इच्छा त्याग कर, यहाँ तक कि इन्द्र पद, ब्रह्म-पद और मोक्ष तक की लालसा नहीं रखते उनके ही लिये यह उपदेश हितकारक होगा। जिनकी लौकिक वैदिक कर्मों में ही प्रवृत्ति है ; जो इस लोक में कर्म करके स्वर्ग जाना चाहते हैं और स्वर्ग से भ्रष्ट होकर पुनः शुभकर्मों में ही प्रवृत्त होना चाहते हैं, उनको तो यह उपदेश रुचेगा ही नहीं। फिर जो वेद और परलोक को मानते ही नहीं ; इस शरीर को ही सब कुछ

समझते हैं, उनको तो रुचिकर होगा ही कैसे ? आप सब भगवत् भक्त हैं, श्रीकृष्ण में चित्त लगाये बैठें हैं, अतः मैं आप से नारद जी के उस दिव्य उपदेश को कहूँगा।

छप्पय

नारद जी ने कहा—व्यास ! तुम सब गुण आकर।
वेद-पुराण प्रवीण सभी शास्त्रनि के सागर॥
ब्रह्मज्ञानी आप इस तरह क्यों पछताते।
कारण क्या है ? कहो भेद क्यों नहीं बताते॥

बोले व्यास विनीत हो, मुनि ! मन मैल मिटाइ दो।
काज कौन कीयो नहीं, सब सच-सच समझाइ दो॥

———

व्यासजी की व्याकुलता का कारण

(१७)

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा—
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥१

(श्री भा० १ स्क० ५ अ० २२ श्लोक)

छप्पय

बोले नारद—"सभी आपने धर्म बताये।
किन्तु कृष्ण के ललित चरित अति विशद न गाये॥
भक्ति भाव से हीन कुकवि जो कविता करते।
काक तीर्थ सम समुझि हंस मुनि नहिं आदरते॥

अब सब तजि मुनि! भक्ति का, प्रेम प्रवाह बहाइये।
भक्तिभाव दर्शाइये, भगवत चरित सुनाइये॥

सूतजी बोले—"मुनियो! रहस्य की बातें एकान्त में ही होती हैं। जब प्रेम से प्लावित, स्नेह से आर्द्र दो हृदय एकान्त में सटते हैं, तो प्रेम का स्रोत उमड़ने लगता है। जगत् को

---

१ मनुष्यों के तप, वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, सत्कथन, ज्ञान और दान आदि समस्त शुभकर्मों का एक मात्र अक्षय फल बुद्धिमान् पुरुषों

पावन करने वाली स्नेह कीधारा बहने लगती है, जो धराधाम पर आकर पापी प्राणियों को भी पुण्य प्रदान करती है। सुख शान्ति की दातृ होती है। जब भगवान् व्यास और देवर्षि नारद दोनों ही पुण्य तोया सरस्वती के तट पर विशालापुरी में नर पर्वत के पार्श्वर्व में बैठ कर प्रेम की जो चर्चा कर रहे थे, उसीसे त्रैलोक्य पावनी श्रीगंगाजी की यह दूसरी धारा श्रीमद्भागवत रूपिणी निकली। इस धारा में एक विशेषता है, श्रीगंगा जी तो सर्वदा सबको सब स्थानों में दुर्लभ हैं, किन्तु यह कृष्ण कथा रूपी गंगा सभी काल में सर्वत्र सुलभ हैं, यदि उसका हृदय अनुराग से आर्द्र हो तो।

नारदजी ने कहा—"व्यासजी! आपने जो भी कुछ किया सब उचित ही किया। इन संसारी लोगों को अधर्म से हटाकर धर्म में लगाने की शिक्षा दी। भाँति-भाँति के कथा उपाख्यानों द्वारा धर्म का मर्म समझाया, किन्तु आपने भगवत् यश का वर्णन नहीं किया। यह तो ऐसा ही हुआ कि पेड़ को वर्षों बड़ी श्रद्धा से श्रम से सींचा। फल के समय उसमें केवल रुई ही रुई निकली। जिस ज्ञान से भगवान् वासुदेव प्रसन्न न हों, उस ज्ञान को मैं व्यर्थ, अत्यंत तुच्छ ही समझता हूँ।"

व्यासजी बोले—"भगवन्! मैंने महाभारत में, अन्य पुराणों में भगवत् गुणों का, अवतार चरितों का वर्णन किया तो है।"

इस पर बड़े स्नेह से नारदजी बोले—"देखिये, मैं यह नहीं कहता हूँ कि आपने भगवान् का यश यत् किंचित् भी वर्णन नहीं किया। हाँ, आपने वर्णन किया है, किन्तु यह बात तो

ने इतना ही बताया है, कि इन सबके द्वारा भगवान् उत्तमश्लोक के गुण वर्णनों में रुचि उत्पन्न हो।

व्यासजी ! आपको माननी ही पड़ेगी कि जिस पर आपने इन सकाम कर्मों की विशद व्याख्या की है, इनके करने पर जितना बल दिया है, उतना बल दिया है, उतना बल भगवत् लीलाओं पर नहीं दिया। आप ही सोचिये, भगवत् भक्ति के बिना ये धर्म कर्म किस काम के हैं !"

व्यासजी ने कहा—"मुनिवर ! कविता में सभी की रुचि रखनी पड़ती है।"

नारदजी ने कहा—"मैं उस कविता को कविता कहता ही नहीं जिसमें उपमा अलंकार तो बहुत हों, यमक अनुप्रासों की भी कमी न हो, पद विन्यासावली भी भली भाँति सजाई गई हो, परन्तु परम पावन, प्रभु का पावन यश जिसमें वर्णन न किया गया हो। वाणी की सार्थकता, केवल भगवान् के नाम और गुणों के गान में ही है। जिसमें कमनीय कमल न हो, अमृत के समान स्वच्छ स्वादिष्ट, सुमधुरपय न हो, शुभ्र विमल मनोहर मोती न हो, उस सरोवर में हंस नहीं ठहरते। उस कीचड़ वाले गड्ढे में तो जल काकों का ही निवास रहता है। भगवत् भक्त हंसों के समान ही गुणग्राही निर्मल और सब को आनन्द देनेवाले कहे गये हैं।

व्यासजी ने कहा—"प्रभो ! यदि लोक रंजन की सामग्री न हो, तो उस कविता का तो लोग आदर ही न करेंगे।"

नारद जी ने कहा—"कविता के सम्पूर्ण गुण चाहें उसमें न भी हों, किन्तु भगवान् का यश जिस कविता में है; भगवत् भक्ति से यदि वह युक्त है तो साधुजन तो व्यास जी ! उसी का आदर करेंगे। विषयियों की बात तो मैं कहता नहीं। और की तो बात क्या, भक्ति रहित मोक्ष का साधन यह ज्ञान भी शोभा

नहीं देता। फिर जो कर्म केवल कामना के लिये ही किये गये हैं, जिनके करने का एक मात्र कारण इस लोक और परलोक के दिव्य सुखों की प्राप्ति कराना ही है, वे बिना प्रभु प्रीत्यर्थ किये हुए कर्म कैसे शोभा दे सकते हैं? इसलिये अब आप हे बुद्धिमान् व्यास जी! मन को हरने वाली, सबको सुख देने वाली, जगत् को पावन बनाने वाली कृष्ण की कमनीय कथाओं का संकलन कीजिये। उन्हीं का वर्णन कीजिये।

व्यास जी ने कहा—"महाराज! मैं कैसे वर्णन करूँ? आप मुझे बताते जायँ तो मैं लिखता जाऊँ।"

इतना सुनते ही नारदजी खिलखिला कर अट्टहास करने लगे और हँसते हुए बोले—"महाभाग! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं। आप से कुछ छिपा है क्या? यह आप साधारण मनुष्यों की सी लीला क्यों दिखा रहे हैं। आप अपनी समाधि के द्वारा सब कुछ समझ सकते हैं। एकाग्रचित्त होकर ध्यान में भगवान् की लीलाओं का प्रत्यक्ष करें। प्रत्यक्ष करने के अनन्तर समाधिभाषा में उसका वर्णन करें। आपके लिये कुछ कठिन थोड़े ही है? आप यही करें कि केवल विशुद्ध भगवत् लीलाओं का भगवान् और भक्तों के चारु चरित्रों का ही वर्णन करें। अन्य वस्तुओं का वर्णन करने से ध्वजा के समान चित्त चंचल हो जाता है। भँवर में पड़ी नौका के समान बुद्धि डगमगाने लगती है। प्रवाह में डूबते के समान मन व्याकुलता का अनुभव करता है।

व्यासजी ने कहा—"महाभारत में तो मैंने कुछ भी नहीं छोड़ा है। उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, प्रेमभक्ति सभी विषयों का विवेचन है।"

नारद जी मंदमंद मुस्कराते हुए बोले—व्यास जी ! मैं आपके महाभारत की सराहना करता हूँ। आपका परिश्रम अत्यन्त श्लाघनीय है। यह भी मैं मानता हूँ, उसमें आपने सभी कुछ भर दिया है। किन्तु हे महाभाग ! आप मेरी बात मानिये उससे सबका कल्याण कठिन है। महाभारत तो ऐसा है, जैसे कोई बड़ा भारी दुर्ग हो, कोई दृढ़ किला हो। उसमें आपने अनेक प्रकार के भवनों की, सरोवरों की, सड़कों की, फलदार वृक्षों कीं, भाँति २ के परिचारक और परिचारिकाओं की रचना की है। उन फलों के बीच-बीच में कहीं अमृत फल वाले भी वृक्ष लगा दिये हैं। किसी-किसी भवन के किसी कोने की कोठरी में कहीं कुछ अमृत फल भी छिपाकर रख दिये हैं कोई वहीं का भेदी बुद्धिमान पुरुष बड़े श्रम से खोज करे तभी कहीं उन अमृत कल्पफलों को पा सकता है। रात्रि दिन उसी में विचरण करने वाले माली या सेवक ही उन कल्प-पादयों का पता पा सकते हैं, सर्वसाधारण उन्हें जानने में असमर्थ ही रहेंगे। मैं तो चाहता हूँ, कि आप एक ऐसे दिव्य रस वाले फल की रचना करें जिसे देखते ही सब समझ जायँ जिसके सेवन मात्र से ही सब सुखी हो जायँ। जिसे खोजने के लिए श्रम न करना पड़े। यही नहीं उस फल में ऊपर का छिलका और भीतर की गुठली कुछ भी त्यागने योग्य न हो। सब खाने योग्य मधुर रसका एक पिंड ही हो। वह पिंड भी कड़े रसका न हों कि काटने में दाँतों को कष्ट हो, मिश्री के ढेले की तरह न हो कि बहुत देर तक मुंह में चूसो या दाँतों तोड़ो तब रस निकले। यह फल ऐसा हो कि भीतर भी रस भरा हो बाहिर भी चू रहा हो, गुलाब जामुन की तरह, रस-गुल्ले की तरह हो। अथवा पहाड़ी शहद के गोले की तरह

हो, या गरमागरम टटकी जलेबी की भाँति हो, या तत्काल निकाले मक्खन के गोले में पिसी मिश्री मिले हुए लौंदे के समान हो, या बराबर के बूरे और घी से मिले मलीदे के लड्डू की तरह हो।

महाभारत में आपने काम्यकर्मों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा कर डाली है। अमुक ऋषि थे, उन्होंने विवाह नहीं किया, इसीसे वे स्वर्ग नहीं जा सके। फिर उन्हें चिन्ता हुई कैसे मैं विवाह करके शीघ्र संतान उत्पन्न करूँ ? बिना संतान के स्वर्ग नहीं, उद्धार नहीं। इसलिये शीघ्र संतान की कामना से पत्नी बन कर पुत्र पैदा किये। अमुक ऋषि के पितर बिना संतान के नरक जा रहे थे, अतः तपस्या छोड़कर उन्हें विवाह करना पड़ा। ऐसे ही अनेक कथाओं की उसमें भरमार है। यद्यपि ये सब ठीक हैं। संसार में इनका भी प्रयोजन है, किन्तु कर्मों में तो प्राणियों की स्वतः ही प्रवृत्ति है। विवाह करने की, संतान उत्पन्न करने की तो स्त्री-पुरुषों में स्वाभाविक ही इच्छा होती है। बिना सिखाये ही इन कर्मों में अपने आप प्रवृत्त हो जाते हैं। हाँ, इतना ही है कि धर्म के द्वारा उनकी स्वेच्छा वृत्ति को सीमित बनाया जाता है। किन्तु स्थान-स्थान पर विशद रूप से इन्हीं बातों की चर्चा होने से लोग समझते हैं, कि संसार में काम ही सार है। संतानोत्पति ही परम पुरुषार्थ है। स्थान-स्थान पर जो सूक्ष्म रूप से आपने भगवत् भक्ति का वर्णन किया है, इतने बड़े सागर में काम्यकर्मों में स्वाभाविक प्रवृत्ति वाले पुरुषों का उनकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। बस, वे तो अपने प्रयोजन की बात को खोज लेते हैं। अपने मन की बात को चित्त अति

शीघ्र ग्रहण कर लेता है। कोई प्रसंग आते ही कहने लगते हैं—"यह तो व्यास जी का वचन है।"

व्यास जी! आप बुरा न मानो। हमारी बुद्धि में तो यह बात बैठी नहीं। आपने एक ओर की ही बात कह दी।

इस पर व्यास जी बोले—"भगवन्! मैंने संन्यासमार्ग का भी तो वर्णन किया है। जिन्हें काम्यकर्मों में रुचि न हो, वे संसार त्यागी विरागी बन जायँ। संन्यास धारण करके सद् असद् का विवेचन करते हुए ज्ञानमार्ग का अवलम्बन करें?"

नारद जी ने कहा—"यह आपकी बात यथार्थ है, किन्तु आप सोचते नहीं, सभी तो विलक्षण बुद्धि वाले व्यक्ति नहीं होते। उन सच्चिदानन्द स्वरूप विभु भगवान् के मर्म को परम वैराग्यवान् पुरुष ही अभ्यास वैराग्य के द्वारा अनुभव कर सकते हैं। किन्तु जिनको प्रवृत्ति तो कर्म में है, कर्म भी वे करना चाहते हैं। किन्तु ऐसे, जो बन्धन के कारण न हों। कर्म करते हुए भी वे निष्कामता की ओर ले जाने वाले हों। ऐसे लोगों के लिये आप भगवान् की ललित लीलाओं का वर्णन करें, जिनके द्वारा कर्ण भी तृप्त हो मन भी प्रसन्न हों। कर्मबन्धन भी न हो और भगवत् लोक की भी प्राप्ति हो सके।

अच्छा, मैं आप से एक बात कहता हूँ, उस पर विचार करें। एक व्यक्ति है, आपके बताये हुए विधिवत् वर्णाश्रम धर्म का काम्य कर्मों का अनुष्ठान तो करता है, किन्तु वे कार्य भगवत् भक्ति से शून्य होकर करता है; तो क्या उसका कभी कल्याण हो सकता है? कर्मों का फल तो अवश्य होता ही है। उसे पुण्य लोकों की प्राप्ति हो सकती है, स्वर्ग मिल सकता है,

किन्तु फिर भी कर्मचक्र में ही फँसना पड़ेगा। इसके विपरीत एक ऐसा व्यक्ति है, कि वह निरंतर भगवत् भक्ति में ही लगा रहता है। भगवान् के प्रेम में इतना तल्लीन हो गया कि उसे अपने स्वधर्म पालन का भी ध्यान नहीं रह गया है। श्रीकृष्ण-भक्ति को ही उसने अपना परम धर्म बना लिया है। दैवयोग से यदि उसका पतन हो जाय। भजन पूजन छोड़ दे तो क्या उसका सब व्यर्थ हो गया? नहीं, वह पुनः भगवत् भक्ति को प्राप्त होगा। उसकी की हुई भक्ति उसके समस्त विघ्नों को हटाकर उसे कल्याण मार्ग पर डाल देगी।

इन्द्रियों के विषय चाहे इस लोक के हों या पर लोक के, इनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। प्रारब्धानुसार ये तो प्राप्त होते ही हैं। संसारी पुरुषों में ऐसा कौन है जो धनी बनना न चाहता हो? किन्तु सभी तो धनी नहीं होते? वृद्धावस्था को कौन चाहता है? किन्तु न चाहने पर भी आही जाती है। मृत्यु की इच्छा कौन करता है? न करने पर भी जन्म धारण करने वाले की मृत्यु आ ही जाती है। नाना प्रकार के ज्वर आदि रोगों को स्वेच्छा से कौन वरण करता है? न चाहने पर भी रोग प्रारब्धानुसार सभी के शरीरों में अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह इन्द्रियों का सुख भी है। बहुत से ज्ञानी पुरुष शारीरिक सुख के लिये चेष्टा नहीं करते, चेष्टा न करने पर भी प्रारब्धानुसार उनके शारीरिक सुख प्राप्त हो ही जाता है। ये शारीरिक सुख दुःख दोनों ही प्रारब्धानुसार आते और जाते रहते हैं। सभी योनियों में ये होत हैं। राजा को जो सुख अपनी रानी के द्वारा है, कुत्ता को वही सुख अपनी कुतिया के द्वारा है इसके लिये चिन्ता करना, प्रयत्न करना, सदा इसके लिये व्यग्र बने रहना व्यर्थ है। सभी योनि प्रारब्धानुसार प्राप्त होती हैं।

जिस योनि में जाओगे प्रारब्ध साथ ही रहेगा। उसी के अनुसार सुख दुःख होंगे ही। उनकी चिंता करो तो भी मिलेंगे, न चिन्ता करो तो भी मिलेंगे। इसलिये इस ओर से तो मनुष्य को निश्चिन्त रहना चाहिए।

व्यास जी ने पूछा—"तब, महाराज! आदमी और क्या करे? हम लोग सदा पेट पालने तथा स्त्री बच्चों की रक्षा के लिये हैं। जो वस्तुएँ प्राप्त नहीं हैं, उनकी प्राप्ति के लिये और जो हमारे पास हैं हमें श्रम से या स्वतः ही प्राप्त हो गई हैं, उन्हीं की रक्षा में तो सदा व्यग्र बने रहते हैं। संसारी लोगों के पास दो ही तो काम हैं, योग और क्षेम। योग तो सामग्रियों को जुटाना, क्षेम जुटी हुई वस्तुओं को सम्हाल कर सावधानी से रखना। आप दोनों की ही चिन्ता छोड़ने को कह रहे हैं फिर कर्तव्य ही क्या रहा? हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें। अकर्मण्य आलसी बन जायें?

नारद जी ने कहा—"मैं अकर्मण्य आलसी बनने को थोड़े ही कह रहा हूँ। संसारी वस्तुओं को जुटाने और रक्षा करने की चिन्ता रूपी कर्म तो अत्यंत तुच्छ है। मैं एक ऐसा कर्म करने को बता रहा हूँ, जो ८४ लाख योनियों में भ्रमण करने पर भी पुरुष को प्राप्त नहीं हो सकता। वही महान् कर्म है, उसी के लिये किया हुआ प्रयत्न सार्थक है। वही पुरुष का परम पुरुषार्थ है। उसीसे नर देह की कृतकृत्यता है। उसी का आश्रय लेकर मनुष्य निश्चिन्त हो सकता है। उसी का विना वर्णन किये आप व्याकुल हैं। उसी का विशद विशुद्ध वर्णन न कर के आप अपने में कमी का, अकृतकृत्यता का अनुभव कर रहे हैं। जिसने उस रस का यत्किंचित भी आस्वादन कर लिया वह कृतकृत्य हो गया।

हे प्रिय दर्शन व्यासजी! जिनके मन मन्दिर में मुकुन्द की मनमोहिनी मूर्ति प्रतिष्ठित हो गई है, वह संसारी आवा-गमन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। वह सदा आनन्द-सागर में गोता लगाता रहता है। तुम ही सोचो, जिसे एक बार उस दिव्य रस का चस्का लग गया है; जिसने उसकी मधुरता का अनुभव किया है, वह फिर कभी उसे छोड़ सकता है?

तुम कहते हो यह चराचर जगत् ही श्रीहरि का साकार स्वरूप है। इसीमें वे समान रूप से रम रहें हैं। यह सब सत्य है। भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अणु-परिमाण में वे ही व्याप्त हैं। फिर भी इस जगत् से भी विलक्षण एक भगवान् और हैं। उनमें दुःख का लेश नहीं। चिन्ता की गंध नहीं, परम आनंद स्वरूप, परम सुख स्वरूप वे सुख के सागर आनंद के निधि हैं। वे सगुण साकार हैं, मुरलीधारी हैं, सब के मन को हरने वाले हैं, सब को प्यार करने वाले हैं, उनकी मन्द मन्द मुस्कुराहट मन में मिश्री घोल देती है। उनका अनुपम रूप आँखों में चुभ जाने से सर्वत्र वे ही वे दिखाई देते हैं। यह सम्पूर्ण जगत विलीन हो जाता है। उनकी चितवन में मादकता है, उनकी वंशी के स्वर में विश्वविमोहिनी शक्ति है। उन्हीं की कुछ कथा कहिये, उन्हीं के चरित्र से आप कृत-कृत्य होंगे। उन्हीं का वर्णन करके आप धन्य होंगे।

आप सब जानते हैं. लोक दिखावे को यह भाव प्रकट कर रहे हैं; मुझे मान दे रहे हैं। ज्ञान की परम्परा बाँधने को यह ढोंग रच रहे हैं। आप कोई साधारण पुरुष तो हैं नहीं। आप स्वयं साक्षात् श्रीहरि के अंशावतार हैं, आपने लोककल्याण के निमित्त यह अवतार धारण किया है। अजन्मा होकर भी आपने जन्म लिया है। आपने ही तो सब

कीड़ायें की हैं। शाँति के साथ एकान्त में अपनी की हुई क्रीड़ाओं का स्मरण कीजिये और फिर उनका अच्छी तरह वर्णन करें। जिससे लोगों का कल्याण हो। बुद्धिमानों की प्रखर से प्रखर बुद्धि का, तपस्वियों के उत्कट से उत्कट तप का, सभी प्रकार के वेदशास्त्रों के अध्ययनों का, सभी प्रकार के राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों का, यहाँ तक कि ज्ञान, ध्यान कथा वार्ता सभी का एकमात्र फल भगवान् वासुदेव के चरणों में भक्ति ही होना है। समस्त कथाओं में सार्थकता नन्दनन्दन अनन्द कंद श्रीकृष्णचन्द्र के चारु चरित्रों के वर्णन में ही है। जिस वाणी से वासुदेव के गुणों का वर्णन न हुआ, वह वाणी वाणी नहीं है, जो श्रवण परम श्रवणीय श्रीकृष्ण के गुणों का गान नहीं सुनते वे सच्चे श्रवण नहीं हैं। व्यर्थ के छिद्र मात्र हैं। श्रीहरि के मंगलमय मनोहर नाम पुरुष को संसार सागर से पार कर देते हैं। विपत्ति से बचा लेते हैं और शाश्वत शान्ति के सदन में सुखपूर्वक पहुँचा देते हैं।

व्यासजी! मैं अपने अनुभव की ही बात बता रहा हूँ, सुनी सुनाई नहीं कह रहा हूँ। मैं पूर्व जन्म में दासी साधनों से हीन था, न तो मेरे द्विजातियों के से संस्कार हुए थे न गुरुकुल में वास करके अध्ययन ही किया था। इसका मुझे अधिकार ही नहीं था। मैं अनाथ था, अपने, अपने पिता का भी पूरा पता नहीं था। इस तरह कुल, कर्म, विद्या, साधन सभी से रहित होने पर भी केवल श्रीहरि के सुमधुर नामों के गायन के ही प्रभाव से, एकमात्र भगवान् वासुदेव के श्रद्धा से किये हुए संकीर्तन के ही प्रभाव से मैं इस दशा में हो गया। लोक निंदित से लोक वन्दित बना। दासी पुत्र ब्रह्माजी का मानस पुत्र कहाया। मनुष्य से देवर्षि बना। अनादृत से आज

चराचर लोक का परम आदरणीय बना। इन सब का एक मात्र कारण भगवान् वासुदेव की भक्ति ही है। उनके नाम, गुण लीलाओं के श्रवण गायन और कथन का ही परिणाम है। अतः आप भी भगवान् और भक्तों के यश का गान करें। इससे आपकी लोक में बड़ी ख्याति होगी। संसारी लोगों का बड़ा उपकार होगा, इसका आश्रय लेकर वे अपार संसार सागर को सरलता के साथ तर जायँगे और आपको भी शाश्वती शांति की प्राप्ति होगी।"

इतना कह कर नारद जी चुप हो गये। व्यासजी उत्सुकता के सहित उनकी ओर देखते ही रहे।

छप्पय

मद माते को यथा मद्य का हित जतलाना।
तथा कर्म में निरत पुरुष को विषय बताना॥
पुनि बोले मुनि व्यास—'आश अब होगी पूरी।
किन्तु कथा कुछ कही आपने अभी अधूरी॥

दासीसुत कैसे भये, संत-संग कस लगी मति।
चरित सुखद सब सुनादो, होत हृदय में हर्ष अति॥

—: ❀ :—

नारदजी का पूर्व जन्म का वृत्त

(१८)

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने।
दास्यास्तु कस्याश्चन वेदवादिनाम् ॥
निरूपितो बालक एव योगिनाम्,
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम् ॥१

(श्री भा० १ स्क० ५ अ० २३ श्लोक)

अनुवाद

मुनिवर ! मैंने महामोह वश दुर्गति पाई।
किन्तु कृष्ण की कृपा पाइ वह विपति बिताई ॥
चारु चरित हैं मधुर कृष्ण के अति सुखकारी।
उनका अभिनय रच्यो मुनिन आज्ञा सिरधारी ॥

लीला रास विलास की, अति रहस्ययुत मधुमई।
निरखि मुनिन की सुधिगई, मति मोहित सब की भई ॥

श्रोता और वक्ता दोनों ही रसिक हों तभी आनन्द का सुखद स्रोत उमड़ता है। वक्ता से श्रोता की महत्ता अधिक बताई है। वक्ता गौ के समान है। उसके स्तनों में दुग्ध यथेष्ट भरा है,

---

१ श्री नारद जी भगवान् वेदव्यास से कहते हैं—"हे मुने! पूर्व कल्प में मेरा जन्म वेदवादी ब्राह्मणों की एक दासी के गर्भ से

किन्तु जब तक श्रोता रूपी वत्स उल्लास और स्नेह के साथ स्तनों में हुड्ड नहीं मारता, तब तक वह उन्हें प्रेमपूर्वक पान नहीं करता, जब तक गौ दूध को उतारती नहीं। वत्स के अभाव में भी व्यापारी स्वार्थवश गौ से दूध चूसते हैं, किन्तु उसमें वह स्नेह नहीं। अनुराग से निकले दूध का गुण अद्भुत है। तन्त्री के तारों में सप्तस्वरों की सुमधुर ध्वनियाँ विद्यमान हैं, किन्तु जब तक उन्हें कोई छेड़ने वाला न हो तब तक उनमें से हृदय को आल्हादित करने वाले संगीत की सृष्टि नहीं होती। नारद जी जैसे वक्ता और व्यास जैसे वेदवेदाङ्गों के वेत्ता परम रसिक श्रोता फिर भी रस का समुद्र न उमड़े तो यह असंभव है।

जब नारद जी अपने पूर्व जन्म की अधूरी सी सूत्ररूप में कथा कहकर चुप हो गए, तब व्यास जी की उत्सुकता और बढ़ी। उन्होंने अत्यंत अनुराग के साथ पूछा—"भगवन्! आपने यह अद्भुत बात सुनाई कि आप पहिले दासी पुत्र थे, भगवत् नाम गुण कीर्तन के प्रभाव से देवर्षि योनि को प्राप्त किया। आप इस नारद शरीर से ही दासी पुत्र हुए या किसी दूसरी देह से? हम तो सदा से सुनते आ रहे हैं, कि आप पितामह ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं। सृष्टि के आरंभ में उत्पन्न हुए। आपके समीप माया मोह फटकने भी नहीं पाता फिर आप किस कर्म के कारण दासी पुत्र हुए?

व्यास जी की बात सुनकर मंदमंद मुस्कराते हुए नारद जी बोले—"व्यासदेव! मैं इस नारद शरीर से दासी पुत्र नहीं

हुआ था। उसी समय हमारे यहाँ चातुर्भास्य व्रत के लिए टिकने को कुछ महात्माओं की टोली आई। मैं उन्हीं सब की सेवा में बालकपन में ही नियुक्त कर दिया गया था।

हुआ। पहिले मैं उपवर्हण नाम का गंधर्व था। अपने ही अपराध से मैं गंधर्व योनि से इस मर्त्यलोक में शूद्र योनि में उत्पन्न हुआ।"

अत्यंत आश्चर्य प्रकट करते हुए व्यासजी ने पूछा—प्रभो! आप एक से एक अद्भुत बात बताकर मेरे सन्देह को बढ़ा रहे हैं। सब लोग तो आपको सदा से ऐसा ही कहते हैं, आप सम्पूर्ण विश्व में स्वेच्छा से बिना किसी विघ्न बाधा के भ्रमण करते रहते हैं। आप तो जन्म कर्म बंधन से रहित हैं। फिर कब गंधर्व हुए, कब दासी पुत्र हुए? कैसे ये सब बातें आपको याद हैं? हम लोगों को तो कल रात्रि में देखा हुआ स्वप्न भी याद नहीं रहता?"

नारद जी तनिक अपने स्वर को ऊंचा करके प्रेमकोप के स्वर में बोले—"व्यास जी! तुम ये बच्चों की सी शंका मत किया करो। सब जान-बूझ कर भी आप अज्ञानियों की तरह, प्रश्न पूछते हैं। अजी, यह सृष्टि कोई आज ही थोड़े हुई है। आप कहो कि आप तो रविवार को मध्याह्न के श्वेत दीप समय थे, फिर रविवार को ही आपने मध्याह्न में बदरीबन में श्रीनारायण का प्रसाद कैसे पाया? रविबार एक ही थोड़ा है। मध्याह्न का समय केवल रविवार को ही नहीं होता। नित्य प्रातः, मध्याह्न, सायं होते रहते हैं। रविवार चन्द्रवार हमेशा आते जाते रहते हैं। साल भर के पश्चात् वही ६ ऋतु फिर-फिर आती हैं। यह तो निरवधि है। इसकी कोई अवधि नहीं। यह चक्र सदा से चल रहा है जो मूर्ख हैं, अज्ञ हैं, समय की महानता का, काल के विपर्यय का जिन्हें ज्ञान नहीं वे ऐसी शंका करते हैं, कि समय की अवधि नहीं हैं। उन

बुद्धिहीनों की दृष्टि में केवल कुछ हजार या लाख वर्ष ही समय की परिधि है। न जाने कितनी बार मेरे सामने सृष्टि हुई। कितने ब्रह्मा मेरे देखते-देखते बदल गये। जैसे मनुष्य सोकर उठते हैं, प्रातःकाल देखकर कोई आश्चर्य नहीं करते वैसे ही प्रलय के पश्चात् इस सृष्टि-क्रम को देखकर मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। ब्रह्माजी के संकल्प से हम प्रकट होते हैं। इसलिये उपचार से हमें ब्रह्मपुत्र कहा जाता है। नहीं तो कितने ब्रह्मा हमने आते-जाते देखे हैं। आप इस सृष्टि-क्रम की शृंखला बाँधने के चक्कर में न पड़ें। जैसे समुद्र में सदा अनंत लहरें आती जाती रहती हैं ऐसे ही यह सृष्टिक्रम है। गंगाजी का प्रवाह जैसे निरंतर वहता रहता है वैसे ही यह संसार चक्र चलता रहता है। इसके वार तिथि सम्वत् के चक्कर में पड़ेंगे तब तो आपको कभी ज्ञान न होगा। आप जो इसमें साराति सार भगवत् भक्ति है उसी का विचार करें। किस घटना से किस उपारख्यन से भगवान् वासुदेव के चरणों का चिन्तन होता है। किस कथा के श्रवण से केशव के पुनीत पाद पद्मों में प्रेम उत्पन्न होता है यही विचारणीय विषय है। मैं यह इस कल्प की बात नहीं कह रहा दूसरे कल्प की कथा सुना रहा हूँ। व्यासजी ने विनीत भाव से कहा—दीनबन्धो। मेरी शंक दूर हुई। अब आप गंधर्व कैसे हुए इस वृत्तन्त को सुनाइये।

किंचित काल मौन रह कर पुनः गंभीर होकर प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्‌गद् कंठ से नारदजी कहने लगे—व्यासजी यह कथा बड़ी ही मनोहर है। हृदय में प्रेमभाव का संचार करने वाली है आपके सम्मुख उसे प्रकट करता हूँ आप श्रद्धा सहित उसे श्रवण कीजिये।

एक समय की बात है कि देवराज इन्द्र की सभा में समस्त ऋषिमुनि, यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर तथा देवतागण बैठे थे। ऋषियों ने मुझसे पूछा—नारद! तुम्हारी तो सर्वत्र अव्याहत गति है। हमने सुना है कि गोलोक में श्रीहरि की सदा दिव्य रासलीला होती है। वह लीला अत्यंत ही आह्लाद कारिणी है। क्योंकि उसकी जननी आध्याशक्ति श्रीमती श्रीजी हैं। तुम तो अनेक वार गोलोक जाते हो। उस लीला का यत् किंचित् रसास्वादन हमें भी कराइये।"

मैंने कहा—"मुनियो! नंदनंदन की वह लीला अत्यंत रहस्यमयी है। वे सब प्रकृति के परे की बातें हैं। जिन इन्द्रियों का स्वभाव ही विषयों की ओर अपने आपही दौड़ना है वे भला उस दिव्य लीला का दर्शन करने में कैसे समर्थ हो सकती हैं। इससे तो एक नूतन अनर्थ की संभावना है। यदि उस प्रकृति से परे दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य में काम भाव का संकल्प भी उठ गया तो सब किया कराया व्यर्थ हो जायगा।"

ऋषियों ने आग्रह के साथ कहा—"नारद! हमारी बड़ी इच्छा है, हम उसे देखने को आकुल हो रहे हैं। प्रत्यक्ष देखने का सौभाग्य तो हमें कहाँ हो सकता है आप अभिनय के द्वारा उसका यत्किंचित आभास हमें दिखाइये। उससे हम कृतकृत्य हो जायँगे।"

मैंने भी सोचा—चलो इसी मिस से कुछ कृष्णकीर्तन कृष्णलीलास्मरण होगा। अतः! मैंने उन महर्षियों और देवताओं से कुछ अवधि मांगी। एक तिथि निश्चित करदी गई कि अमुक दिन आप यहाँ हमें अभिनय दिखावें।

ऋषियों की आज्ञा पाकर मैं गन्धर्व लोक में आया। व्यासजी! यह बात तो आप जानते ही हैं, देवताओं की

जितनी योनि हैं उन सब में गन्धर्व और विद्याधर सौन्दर्य में अद्वितीय होते हैं। इस गन्धमादन पर तो गन्धर्व और विद्याधरों की युवतियाँ विहार करने आती ही हैं। आप उन्हें देखते ही होंगे। संगीत में तो ये जन्म से ही प्रवीण होते हैं। जैसे पक्षियों के बच्चे पंख निकलते ही उड़ने लगते हैं ऐसे ही गन्धर्व जन्म लेते ही अपने आप सस्वर गान करने लगते हैं।

मैंने उन गन्धर्व और विद्याधरों के अत्यन्त सुन्दर सुन्दर बालक बालिकाओं को रासलीला के अभिनय की शिक्षा दी। उन्हें विधिवत् श्री कृष्ण के नृत्य की शिक्षा दी, सखियों का संगीत सिखाया और भी जो उपयोगी विषय थे, सभी की विधिवत् शिक्षा दी। वे सब मेरी शिक्षा के द्वारा परम प्रवीण हो गये।

व्यास जी! उस समय मेरे उत्साह का वारा पार नहीं था, अपनी लगाई हुई वाटिका को देखकर माली का मन मुकुर जैसे खिल जाता है, उसी प्रकार अपनी शिक्षा से शिक्षित उस मन मोहक मंडली की प्रवीणता से मैं अत्यधिक आनंदित था। नियत तिथि आई। नंदन वन के एक प्रशस्त प्रांगण में रंग-स्थली बनाई गई। वह चित्र विचित्र दिव्यांवरों से चित्र विचित्रित चाँदनी और चँदोवों से सजाई गई थी। स्थान स्थान पर नन्दन वन के दिव्य पुष्पों की मालायें लटक रही थीं। रचना विश्वकर्मा ने स्वयं अपने हाथों से उसकी अद्भुत अलौकिक की थी। गोलोक के सभी दृश्यों का प्रदर्शन कराया गया था।

कल्पवृक्ष के पुष्पों की मंद मंद सुगंध को लिये हुए मारुत मंथर गति से बह रहा था। सर्वत्र दिव्य पुष्प खिले हुए थे, उन पर मधु लोलुप मत्त मधुप गुंजार कर रहे थे। समय से पूर्व ही ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व, यक्ष, नाग आ आ कर अपने अपने निर्दिष्ट स्थानों पर बैठ गये। दूसरी ओर यौवन के मद से मदमाती स्वर्ग की असंख्यों अप्सरायें विद्युत् के समान अपने दिव्य वस्त्र भूषणों की चमक दमक से उस सभा को प्रकाशित करती हुई विद्यमान थीं। सभा खचाखच भरी थी, शान्ति ऐसी थी, कि एक सुई भी डालो तो इसकी ध्वनि सुनाई दे जाय। सभी एक टक भाव से दत्त चित्त होकर रंगभूमि की ही ओर निहार रहे थे। सहसा रंगमंच की जवनिका उठी और उन गन्धर्व विद्याधर के बालक बालिकाओं ने अपना दिव्य संगीत आरंभ किया। तत्पश्चात् रास लीला का अभिनय दिखाया। सभी मंत्र मुग्ध की भाँति मौन थे। प्रेम के कारण सभी के कंठ रुँध गये थे। देवताओं के तो वैसे ही पलक नहीं गिरते, किन्तु उस समाज में जितने भी लोग बैठे थे, किसी के पलक नहीं गिरते थे। अपने आपे को भूले हुए, वे समाधिस्थ पुरुष की भाँति उस अभिनय रूप अमृत के सागर में निमग्न थे। वाह्य जगत् का उन्हें आभास भी नही था। ऐसे ही समय में जवनिका पात हुआ। दूसरा दृश्य दिखाने में देरी हुई। मेरा मन भी कुछ अत्यन्त सुन्दरी गन्धर्व कन्याओं में आसक्त हो गया था। उनके उस समय के अपूर्व सौन्दर्य को

देख कर चित्त में कुछ चंचलता सी आ गई। मैं यह निश्चय न कर सका कि यह विकारजन्म भाव है या प्रेम की विस्मृति है। मैं अपने आपे को भूल गया। ऋषियों के आनंद में विघ्न हुआ। दृश्य के हटते ही उन्हें वाह्य जगत का भान हुआ, उनकी प्रेम समाधि भंग हुई। इस प्रकार अपने आनन्द में इस प्रकार का अन्तराय देखकर वे दुखी हुए और उसी दुख के आवेश में आकर उन्होंने मुझे शाप दिया, कि जाओ तुम गन्धर्व हो जाओ और जिनके रूप में तुम आसक्त होकर अपने आपे को भूल गये हो उनके अधीन हो जाओ।"

अब मेरी आँखें खुली, किन्तु अब क्या था, होना था सो हो गया। वाण धनुष से छूट गया। अब तो लक्ष्य तक पहुँचेगा ही। अभिनय तो था ही, आनंद में निरानद की लहर दौड़ गई, रंग में भंग हो गया। मैंने दीनता से जा कर ऋषियों के पैर पकड़े और अपने उद्धार का उपाय पूछा। इस पर ऋषियों ने कहा—"तुम्हें गन्धर्व योनि में तो जाना ही पड़ेगा। जिनको देखकर तुम्हारे चित्त में चंचलता हुई है; वे तुम्हारे ऊपर अत्यन्त ही अनुरक्त रहेंगी, किन्तु सत्संग और कृष्ण कीर्तन के प्रभाव से पुनः तुम अपनी नारद योनि को ही प्राप्त करोगे।" इतना कह कर सभा भंग हो गई। ऋषि मुनि अपने-अपने स्थानों को चले गये।

उन सत्यवादी अमोघवीर्य तपोधन ब्रह्मर्षियों के वाक्य व्यर्थ तो होने वाले नहीं थे। कालान्तर में मुझे गन्धर्व योनि

में आना पड़ा। वहाँ से भी भाग्य वश ब्रह्मा जी के शाप के कारण मैं दासीपुत्र हुआ। इस शूद्र योनि में ही मुझे सत्संग के द्वारा भगवत् ध्यान और कृष्णकीर्तन का चस्का लगा, जिससे पुनः मैंने यह अपनी नारद देह प्राप्त की।" इतना कह कर नारदजी ने अपने पूर्व जन्म की कथा का उपसंहार किया—

छप्पय

रंगभूमि थी रम्य रास का रसमय अभिनय।
निरखि सबनि को चित्त चमतकृत हुआ सुअतिशय॥
मेरे मन में मैल धस्यो, रस बिरस भयो सब।
नारी लम्पट होउ मुनिन मिल शाप दियो तब॥

बन्दन करि बिनती करी, होय शाप को अंत कस।
सत संगति हरि भक्ति हो नारद पुनि, मुनि कह्यो अस॥

———:❀:———

गन्धर्व योनि में नारदजी

(१६)

अहं पुराभवं कश्चिद् गन्धर्व उपबर्हणः।
नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥१

(श्री भा० ७ स्क० १५ अ० ६६ श्लोक)

छप्पय

इसी सृष्टि से पूर्व कल्प में अति ही सुन्दर।
उपवर्हण गन्धर्व नाम का था मैं मुनिवर!
नख से शिख तक सुघड़ मनोहर मेरी मूरति।
दिव्य गंधयुत देह शरीरी मानों रति पति॥

मेरे मनहर रूप पर, अबला अति आसक्त थीं।
मदन मथित मदमत्त थीं, सब समान अनुक्त थीं॥

जैसे मिठाई बेचने वाला पहिले ग्राहक को बिना मूल्य थोड़ी बानगी चखाता है, जिससे उसकी जिह्वा उसके स्वाद से आकृष्ट हो उठे और विवश होकर उसे मिठाई लेनी ही पड़े।

---

१ नारदजी राजा युधिष्ठिर से कहते हैं—"हे राजन्! मैं पिछले बीते हुए महाकल्प में उपवर्हण नाम का गन्धर्व था। दूसरे जितने भी सब गन्धर्व थे, मेरा बड़ा ही सम्मान करते थे।

इसी तरह नारदजी ने अपने पूर्व जन्म की कथा कह कर आगे के प्रसंग को सूक्ष्म रूप से कह दिया। इस पर भागवत कथा लोलुप व्यास जी की उत्सुकता और बढ़ी। वे देवर्षि नारदजी से कहने लगे—"भगवन्! आपने अपने पूर्वजन्म की अत्यद्भुत कथा कह कर मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया। अब मैं यह सुनना चाहता हूँ, कि आपने गन्धर्व योनि कैसे प्राप्त की और फिर शूद्र योनि में किस कारण से जाना पड़ा। भगवान् और भक्तों के चरित्र समान ही सुख देने वाले हैं। यही नहीं, भक्तों के चरित्र तो भगवान् के चरित्रों से भी बढ़ कर हैं। आप तो भक्त भी हैं, भगवान् के अवतार भी हैं आपके चरित्र श्रवण से मुझे ही नहीं सम्पूर्ण संसार को सुख शान्ति की प्राप्ति होगी।"

भगवान् व्यास के इस प्रकार पूछने पर श्री नारदजी कहने लगे—"मुनिवर! मैं अपना आगे का वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप ध्यानपूर्वक श्रवण करें। ऋषि मुनियों की भाव-समाधि में भाव संकर होने से उन्हें मानसिक पीड़ा हुई। वे सब भगवत् भाव में भावित थे। श्रीहरि की दिव्य लीलाओं में उनका चित्त आसक्त था। मैंने उनके सुख में अन्तराय उपस्थित किया। इसीसे उन्होंने मुझे गन्धर्व होने का शाप दिया। ऋषि के वचन अन्यथा तो हो नहीं सकते। मैं गन्धर्वों में जाकर उत्पन्न हुआ। वहाँ मेरा नाम उपवर्हण था।

मेरे सौन्दर्य का तो पूछना ही क्या। नख से शिख तक इतना सुन्दर था, कि मानों सौन्दर्य के सांचे में ढाल कर ब्रह्मा जी ने मेरी रचना की हो। शरीर की कान्ति तपाये हुए सुवर्ण के समान थी। नवनीत के समान स्निग्धता था। मुझे शृङ्गार करने से भी बड़ा प्रेम था। सर्वथा शरीर के सौन्दर्य को ही

बढ़ाने की चिन्ता में लगा रहता था। मन में मनोहरता का अहंकार व्याप्त रहता, नेत्र सदा मद से भरे रहते। मेरे शरीर से सदा दिव्य गंध निकलती रहती। जिससे आस पास के लोग स्वतः ही मेरी ओर आकर्षित हो जाते। व्यास जी! सौन्दर्य का मद मनुष्य को सत्पथ से भ्रष्ट कर देता है। स्त्रियों के हृदय की रचना अत्यन्त ही कोमल तन्तुओं से हुई है। इनके ऊपर सौन्दर्य का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। सुसज्जित सुन्दर पुरुष को देख कर कोई परमसती साध्वी ही सावधान रह सकती है। नहीं तो प्रायः स्त्रियों का धैर्य छूट जाता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने इस बात पर बार-बार बड़ा ही बल दिया है, कि चाहे अपना सगा भाई ही क्यों न हो, युवा पुत्र ही क्यों न हो, एकान्त में उससे भी खुल कर व्यर्थ की बातें न करनी चाहिये। इसी प्रकार पुरुषों के लिये भी कहा है, चाहें अपनी सगी बहिन, पुत्री या मातृस्थानीय दूसरी युवती पूज्य स्त्री ही क्यों न हो; उनसे न एकान्त में बहुत बातें करनी चाहिए, न उनके हाव-भाव कटाक्षों का ध्यान पूर्वक एकान्त में अवलोकन चिन्तन ही करना चाहिये। दोनों में ही यदि सौन्दर्य भी हो तो वह तो विष बुझे बाण का ही काम करता है।

गन्धर्वों में तो यह बात है ही नहीं। वहाँ तो सब साथ हँसते खेलते और क्रीड़ा करते हैं। मेरे सौन्दर्य पर सभी। स्त्रियाँ मुग्ध थीं। जैसे सुन्दर रस भरे कुसुम के आस पास मधुमक्खियाँ मँड़राती रहती हैं। वैसे ही गन्धर्व युवतियाँ मुझे घेरे रहतीं। जैसे मीठी वस्तु के लोभ से बहुत सी चींटियां अपने आप एकत्र हो जाती, हैं वैसे ही बहुत सी गन्धर्व कन्यायें मेरे समीप आ जातीं। जैसे नृत्य करते हुए मयूर को देखकर बहुत सी मयूरियाँ उसे घेर कर उसके उत्साह को

अत्यधिक बढ़ाती हुई कुछ मधुर शब्दसा करने लगती हैं। उसी तरह मुझे गाते देखकर वे मदमाती युवतियाँ अपने कोकिल कूजित कमनीय कंठ से मेरे साथ गाने लगतीं। जिससे मेरा उत्साह द्विगुणित होता और मेरी संपूर्ण कला अपने आप प्रस्फुटित होने लगती।

मैं अपने सौन्दर्य के मद में मस्त था। मुझे संसार का कुछ भी पता नहीं। सौन्दर्य के अभिमान ने मेरे विनय, सदाचार और लोकलाज को भी नष्ट कर दिया था। रूपवान पुरुष संसार में अपने समान किसी को समझता ही नहीं। इस प्रकार सौन्दर्य रूपी सुराको पान करके मैं पागल उन्मत्त के समान बना हुआ गाने बजाने और नाचने में ही समय बिताने लगा। मेरा गला सुरीला था। मेरे गायन की सर्वत्र प्रशंसा थी। इतना सब होने पर भी पूर्व जन्म के संस्कारों के वशी भूत होकर मैं श्रीहरि के गुणानुवादों के ही गीतों का गायन किया करता था। अन्य इधर उधर के विषय सम्बन्धी संगीतों से मुझे घृणा थी। इस लिये मेरे भगवद् गुणानुवाद सम्बन्धी पदों के कीर्तन की सभी लोकों में ख्याति हो गई।

एक समय की बात है। सब प्रजापतियों ने मिल कर एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उस यज्ञ में बड़े बड़े गन्धर्व गाने के लिये बुलाये गये। बड़ी बड़ी अप्साराओं का नृत्य के लिये आह्वान किया गया। मेरी तो सर्वत्र ख्याति थी ही, मुझे भी निमन्त्रण मिला। इसे अपनी कला के प्रदर्शन का उत्तमअवसर समझकर मैं भी उस देवसत्र में गया। किन्तु मुझे तो सौन्दर्य्य की सुराने उन्मत्त बना रखा था। मैं अकेला नहीं गया। अपनी मनोहर मंडली के साथ में भलीभाँति बन ठन

कर बड़े ठाठ बाट और गर्व के सहित मैंने प्रवेश किया। उस समय मेरी शोभा अद्भुत ही थी। जिस प्रकार अपने ऐंन के भार से मंद मंद चलने वाली गोओं के बीच में साँड़ चलता है उसी प्रकार श्रोणी तथा पयोधरों के भार से मंथरगति से इठला कर चलनेवालीं उन गन्धर्व युवतियों से घिरा हुआ मैं जा रहा था। अपनी बड़ी बड़ी विशाल आँखों से जैसे बहुतसी हिरनियाँ अपने यूथपति को बार बार निहारती हुई चलती हैं। उसी प्रकार सब कमलनयनी अपने कमनीय कटाक्षों से मुझे रिझाती हुई चल रही थीं। जैसे मयूरियों से घिरा उन्मत्त मयूर नृत्य करता हुआ शनैः शनैः चलता है। उसी प्रकार मैं भी उनकी रूप माधुरी में आसक्त नाचता हुआ सा जा रहा था। जैसे हथनियों से घिरा विशाल डीलडौल का हाथी उनको प्यार करता हुआ चलता है, उसी प्रकार मैं भी अपने प्रेम को उन पर प्रदर्शित करता हुआ सभा में प्रवेश कर रहा था। जैसे बहुत सी भ्रमरियों के बीच गुनगुनाता हुआ मधुलोभी मधुप जा रहा हो उसी प्रकार अपनी आभा से दशों दिशाओं को प्रकाशित करनेवाली उन श्यामा गन्धर्वियों के साथ गाता हुआ मैं उस सभा में गया।

मैंने न तो वहाँ के सभासदों को प्रणाम ही किया और न देवता, ऋषि तथा प्रजापतियों के प्रति सम्मान ही प्रदर्शित किया। मैं उस समय अपने आपे में था ही नहीं। मेरे सिर पर तो सौन्दर्य का भूत चढ़ा हुआ था। उसने मेरे सम्पूर्ण विवेक को नष्ट कर दिया था। लोकलाज, विनय, शिष्टाचार तो कामी पुरुषों को त्याग कर चले ही जाते हैं। फिर वे मेरे पास रहने ही क्यों लगे, उद्धत निर्लज्ज के समान मैं उस सभा में चला गया। इस अविनय से विश्व को रचनेवाले सभी

के पूजनीय प्रजापति क्रुद्ध हो गये और मुझे शाप दिया—"अरे तू अविनीत की भाँति हमारी अवज्ञा करता हुआ इस सत्र में आया है। अतः जा तू शूद्र हो जा। पृथ्वी में तेरा जन्म शूद्रा की योनि से हो।"

प्रजापतियों के ऐसे शाप को सुनकर जैसे गहरी भाँग पिये हुये मनुष्य का नशा खट्टा दही पीने से उतर जाता है, उसी प्रकार मेरा सौन्दर्यमद उतर गया। मेरी आँखें खुल गईं। चारों ओर अंधकार अंधकार दिखाई देने लगा। हाय! अब मुझे देवलोक त्याग कर मर्त्यलोक में जाना पड़ेगा। वहाँ शूद्र योनि में उत्पन्न होकर न जाने क्या क्या कुकर्म करने पड़ेंगे। हाय! मैंने इन स्त्रियों के फन्दे में फँसकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया। समस्त सद्गुण मुझे त्याग कर पहिले ही चले गये थे। अब जिस सुन्दर गन्धर्व शरीर का मुझे अत्यधिक अभिमान था उसे भी त्यागना पड़ेगा। मुझसे बड़ी भूल हुई। अब में इन कामिनियों का संग न करूँगा। सदाचार से भ्रष्ट करनेवाली इन सुन्दरियों से सम्बन्ध अब मैं न रखूँगा।" इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए मैंने प्रजापतियों के पादपद्मों में प्रणाम किया और दीनता के साथ उनसे अपने उद्धार का उपाय पूछा। प्रजापतियों ने कहा—"हमारा शाप अन्यथा तो हो नहीं सकता। हाँ, इतना होगा, कि तुम्हें बहुत दिनों तक शूद्रयोनि में न रहना पड़ेगा। बहुत थोड़े ही समय में तुम्हारा उससे छुटकारा हो जायगा। महात्माओं के सत्संग के प्रभाव से फिर तुम्हें देवर्षित्व प्राप्त होगा।"

प्रजापतियों के ऐसे वचन सुनकर मुझे सन्तोष हुआ। अपने रूपमद और काम चेष्टाओं पर पश्चात्ताप करता हुआ

तुरंत ही गन्धर्व योनि से पतित हुआ। पृथ्वी पर आकर एक शूद्रा के गर्भ से मेरा जन्म हुआ। शूद्रा के गर्भ से जन्म होने पर भी मुझे सत्संग की प्राप्ति हुई। मुझे अपने पिता का तो पता नहीं, वह कौन था, किस गोत्रका था, किन्तु मेरी मा ब्रह्म वादी मुनियों की दासी थी। उन्हीं की सेवा सुश्रूषा में सदा तत्पर रहती। उसके और कोई संतान नही थीं। मैं ही उसका सर्वस्व था। वह कुछ पढ़ी लिखी नहीं थी, परमार्थ पथ में भी उसका प्रवेश नहीं था। इन संसारी सुखों को ही सर्व-श्रेष्ठ समझने वाली थी। जैसे सब संसारी होते हैं वैसी ही वह थी। बड़ी दीन चित्त और कृपणा थी। उसकी समस्त मोह ममता मेरे ही ऊपर सीमित थी। मैं उसका बाहिरी प्राण था। सदा मेरे लालन पालन की चिन्ता में लगी रहती। मुझे तनिक भी कष्ट होता, तो वह व्यग्र हो जाती। रात्रि रात्रि भर जाग कर वह मेरी देख रेख रखती। इधर उधर से अच्छी अच्छी वस्तुएँ माँग जाँच कर लाती और मुझे खिलाती। उसे आठों पहर मेरा ही ध्यान रहता। सोते समय भी मेरे ही सम्बन्ध के स्वप्न देखती। इसी प्रकार मेरी अवस्था पाँच वर्ष की हो गई।

मेरी माता के मनोरथ रात्रि दिन चलते ही रहते। वह सोचती—"अब मेरा बेटा ५ वर्ष का हो गया है। तनिक और हो जाय तो ५, ६ वर्ष के अनंतर कहीं से इसका विवाह कर दूंगी। जब घर में छम्म-छम्म करती हुई गुड़िया सी बहू आ जायगी और इन दोनों को जब साथ-साथ मैं देखूँगी, तब मेरे मनोरथ सफल हो जायेंगे। मैं धन्य हो जाऊँगी।

व्यास जी, इन संसारी माता पिताओं की यही एक मात्र सबसे श्रेष्ठ कामना रहती है कि हमारा बेटा बड़ा हो जाय।

बदुआ सी सुन्दर बहू आ जाय और उसके भी बच्चा हो जाय। इससे आगे वे कुछ नहीं सोचते, यही उनके जीवन की अंतिम अभिलाषा रहती है। मेरी माँ की भी यही दशा थी। वह कभी कभी प्रेम में भरकर मुझसे कह भी देतीं—"अरे बेटा! देख तू यह करेगा तो तेरी बड़ी सुन्दर बहू आयेगी।" व्यास जी! मुझे ये बहू-दूल्हा की बातें तनिक भी नहीं सुहाती थी। माता का इतना मोह भी मुझे अच्छा नहीं लगता था। मैं पिंजड़े के पक्षी की तरह अपने को बँधा हुआ समझता था। बाल्यकाल से ही मुझे संसारी बातों से विरक्ति थी। माता के प्रति भी मेरे मन में ममता नहीं थी। मुझे वह भार सी प्रतीत होती। उसे बुरा न लगे, इसलिये कुछ कहता नहीं था, किन्तु सोचता था यदि इसने विवाह करने को कहा तो मैं कभी न करूँगा। व्यास जी! आप इसे भली भाँति समझ लें कि पूत के पाँव पालने में ही प्रतीत होने लगते हैं। होनहार विरवान के आरम्भ से ही चीकने पात होते हैं। जिन बच्चों को आरम्भ से ही बहू, दुल्हा की बातें अच्छी लगती हैं, बालक बालिकाओं के साथ खेल में भी जो बहू दुल्हा के खेल खेलते हैं। समझना चाहिये आगे चलकर ये अवश्य ही संसारी होंगे। जिन्हें आरम्भ से ही संसारी बातें प्रिय नहीं, जो खेल में भी भगवान् की ही लीलाओं का अनुकरण करते हैं, जिन्हें आरम्भ से ही साधु सन्त और भगवत भक्तों के प्रति अनुराग होता है, समझ लो वे आगे चलकर अवश्य ही सन्त होंगे। मैं सोचता था, किसी तरह यह बुढ़िया लुढ़क जाय। इसकी आखें सदाके लिये मिच जाय तो मैं कहीं जङ्गल में जाकर चैनकी बन्शी बजाऊँ, हरिभक्ति में समय बिताऊँ। प्रेम से श्रीहरि के गुण गाऊँ, इस प्रकार माता कुछ

और ही सोच रही थी। और मैं दूसरे ही बिधान बना रहा था। सो व्यासजी इसी प्रकार मेरा बाल्यकाल बीता।

छप्पय

हुआ यज्ञ इक विशद सभी गन्धर्व बुलाये।
विश्व सृजों की आयसु पा हम सब भी धाये॥
सुंदरियों से घिरा रूप मद में मतवाला।
अविनय मेरी निरखि शाप सब ने दे डाला॥

जा, पृथ्वी पर अभी तू, शूद्र योनि में प्रकट हो।
मेरी अनुनय पर कहा—संत समागम निकट हो॥

नारदजी को शूद्र योनि में सत्संग

(२०)

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता—
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः ॥१

(श्री भा० १ स्क० ५ अ० २६ श्लोक)

छप्पय

दासी का मैं पुत्र कर्म शुचि में रुचि रहती ।
मेरी माता महा मोह मुझसे थी करती ॥
चातुर्मास्य निमित्त वहाँ बहु मुनिवर आये ।
सेवा सौंपी मुझे सुने हरि चरित सुहाये ॥

सीथ प्रसादी पाइकें, पाप पहाड़ पला गये ।
भगवत चरित सुहागये, हिय में श्याम समागये ॥

संसार में सर्वत्र स्वार्थ का ही साम्राज्य है । सभी अपनी अपनी घात में बैठे हैं । सभी स्वार्थ सिद्धि के लिये लालायित हैं । लोभी पुत्र सोचता है, पिता का परलोक वास हो तो मेरे मनोरथ सिद्ध हों । स्वार्थी पिता सोचता है, बेटा कुछ सयाना

---

१ नारदजी व्यासजी कहते हैं—"हे परमप्रेमास्पद व्यासजी ! जब मेरी माँ ने मुझे चातुर्मास में एक स्थान पर निवास करनेवाले

हो तो कमा कर खिलावे। यही दशा सब की समझनी चाहिये, सच्चा स्नेह करने वाले सम्बन्धी तो विरले ही कोई होते हैं। नारद जी के अपनी पूर्वजन्म की दासी माता के प्रति ऐसे भाव समझ कर व्यासजी हँस पड़े और फिर मुस्कराते हुए नारदजी से पूछने लगे—"ब्रह्मन्! मुझे एक संदेह उत्पन्न हो गया। आपकी पूर्व जन्म की दासी माता तो आपके ऊपर इतना मोह ममता रखती और आप उसके प्रति तनिक भी स्नेह नहीं रखते थे। उलटे उसका अंत ही चाहते, इसका क्या कारण है?

व्यासजी की बात सुन कर नारद जी कुछ गंभीर हो गये और फिर थोड़ी देर ठहर कर कहने लगे—"व्यासजी! यह सम्पूर्ण जगत् अपने अपने कर्मों के अधीन होकर चेष्टा कर रहा है। मनुष्य पूर्व जन्मों के संस्कारों से विवश होकर सभी चेष्टायें करता है। जिससे पूर्व जन्मों में कभी किसी प्रकार का सम्बन्ध हुआ है, वही आकर इस जन्म में अपना सम्बन्धी बनता है। बिना पूर्व जन्मों के संस्कारों के किसी से सम्बन्ध जुटता ही नहीं। इसी तरह संसार में पद, प्रतिष्ठा सर्व-प्रियता की दशा है। जिसने पूर्व जन्मों में यथेष्ट अन्न दान दिया है इस जन्म में उसी की प्रसिद्धि तथा प्रशंसा होगी। बिना अन्नदान के प्रसिद्धि होती ही नहीं। जिसने पूर्व जन्मों में जितने लोगों के प्रति समदर्शिता प्रकट की होगी वह उतना ही

मुनियों की सेवा में नियुक्त कर दिया, तो मैं वहाँ नित्य प्रति कृष्ण कथा सुनने लगा। वे महात्मा नित्य नियम से बड़ी ही मधुर मनोहर कथा कहा करते थे। उन कथाओं के एक एक पद को मैं बड़े ही ध्यान से श्रद्धा सहित सुनता था। उनके सुनते सुनते ही जिनका श्रवण कीर्तन अत्यन्त ही मनोहर है, उन श्याम सुन्दर की मनमोहिनी मूर्ति में मेरा मन फँस गया। प्रभु के पादपद्मों में भक्ति उत्पन्न हो गई।

सब लोगों का प्रिय होगा। पूर्व जन्म में जिसने जितना ही बाह्य तप किया होगा उसे अगले जन्म में उतना ही शारीरिक सुख प्राप्त होगा। बाह्य तप से आन्तरिक शान्ति की प्राप्ति होती है। वैराग्य से संसार के सभी सम्बन्धों में उदासीनता होती है। यही दशा पुत्र आदि सम्बंधियों के विषय में है। पुत्र ५ प्रकार के होते हैं। न्यासहर्ता, ऋण भोक्ता, ऋण दाता, उदासीन और सत्पुत्र।

किसी ने हमारे पास हमारा विश्वास करके कोई चीज धरोहर रख दी। जब उसने माँगी तो हमने नहीं दी। इससे उसे अत्यंत क्लेश हुआ। वही आकर हमारा पुत्र बनता है। वह बड़ा रूपवान् गुणी और पितृभक्त होता है। पिता उसके ऊपर बहुत द्रव्य व्यय करता है, पढ़ाता लिखाता है। विवाह करता है। अंत में वह अल्पायु होकर मर जाता है। पूर्व जन्म में उसे जैसा धरोहर के नष्ट होने से दुख हुआ था, वैसा ही गुणी पुत्र के मरने पर इस पिता को होता है।

किसी का ऋण लेकर हमने नहीं दिया तो वह भी आकर पुत्र बनता है। स्वभाव का बड़ा ही क्रोधी होता है, बाल्यकाल से ही माता पिता को दुख देने लगता है। रोगी रहता है, खेल में भी माता पिता को मार कर भाग जाता है। हँसता है सबसे लड़ता है, घर में कलह करता है, अकेला अकेला अच्छी अच्छी चीजें खाता है। माता पिता के मरने की प्रतीक्षा करता है, मरने पर उनका श्राद्ध तर्पण भी नहीं करता। यह ऋण भोक्ता पुत्र कहलाता है।

किसी ने हमारा ऋण लेकर नहीं दिया। वह भी ऋण चुकाने को पुत्र होता है। पैदा होते ही रात्रि दिन परिश्रम करता है स्वयं कुछ खाता पीता नहीं। रात्रि दिन धन जुटा-जुटा कर

माता पिता को देता है। उनके मरने पर उनके बड़ी धूमधाम से कार्य करता है। यह ऋण दाता पुत्र कहलाता है।

एक सत पुत्र होता है। हमने किसी देवता की, भगवान् की, संत महात्मा की सेवा की, श्रद्धा पूर्वक तपस्या की और व्रत किये। इससे प्रसन्न होकर या तो वे स्वयं या कोई और पुण्यात्मा पुरुष हमारे तप के प्रभाव से पुत्र बनते हैं। वे माता पिता के भक्त, गुणी, सत्पात्र, धार्मिक, देवता, ऋषि और पितरों के कार्यों में निरत सब को सुख देने वाले, वंश को बढ़ाने वाले, सुख सम्पत्ति को भोगने वाले, सत्पुत्र कहाते हैं।

एक उदासीन भी होते हैं। जिनका पूर्व जन्मों में हमसे कोई विशेष सम्बन्ध तो रहा नहीं। किसी कारण विशेष से अथवा शापवश पुत्र हो जाते हैं। उन्हें जन्म से ही माया मोह नहीं रहता। ज्ञान के प्रभाव से अथवा भगवत् भक्ति के कारण उनके सभी संसारी कर्तव्य गौण हो जाते हैं। उनका एक मात्र कर्तव्य भगवत् भक्ति ही होता है। वे जन्म से ही उदासीन होते हैं, साधु संग, कथा श्रवण, भगवत् भक्ति तथा सन्त महात्माओं की सेवा में अथवा भगवत्-विग्रह की अर्चा में बाल्यकाल से ही उनकी रुचि होती है। वे विवाह बधन में नहीं बँधते। यदि किसी कारण विशेष से बँध भी जाते हैं तो उनके पुत्र नहीं होते, लोभ नहीं करते, परोपकार में ही सब समय निरत रहते हैं। पुत्र इसलिये नहीं होते कि उन्होंने पूर्व-जन्मों में न किसी की धरोहर हरण की, न किसी का ऋण ही मारा, न किसी से इच्छा ही की। यदि किसी सम्बन्ध से कोई पुत्र हो भी गया तो उसमें भी उनका ममत्व नहीं रहता। जैसे और सब के पुत्र हैं, वैसे ही उसे समझता है। इसी तरह

भाई, मित्र, पिता, माता सभी सम्बन्धियों, यहां तक कि नौकर भृत्य, पशु-पक्षी जिससे भी अपना सम्बन्ध हो, सब के सम्बन्ध में इसी प्रकार समझना चाहिये।

मेरा माता के साथ किसी पूर्व जन्म का तो लेने देने का सम्बन्ध था ही नहीं। होगा भी तो उसी का होगा। मेरी रुचि तो आरंभ से ही साधु संग में थी। घर में मेरा मन ही न लगता। जिनके यहाँ हमारी मा दासी थी, वे अच्छे विद्वान् ब्राह्मण थे। किन्तु उनसे खुलकर बातें मैं नहीं कर सकता था। उनके सामने संकोच होता था। हम लोग उनके दास ठहरे, वे हमारे स्वामी ठहरे। व्यासजी! सभी लोग प्यार चाहते हैं। सभी किसी से प्यार पाने के लिये या किसी को प्यार करने के लिये तड़पते रहते हैं। वे लोग धन्य हैं, जिन्हें किसी का सच्चा प्यार प्राप्त है, या जिसे वे ही हृदय से प्यार करते हों। मेरी मा तो माया में ही पड़ी रहती। उससे तो खुल कर बातें ही न होतीं। मेरा मन साधु संग के लिये तड़पने लगा। मैं बाल्यकाल से ही गंभीर चतुर, सुशील और सर्व प्रिय था। मुझे खेल कूद लड़ाई झगड़ा तनिक भी प्रिय न था। सोचता था कोई महात्मा मिलें तो उनके चरणों में बैठ कर खूब रोऊँ और अपने हृदय की ज्वाला को शांत करूँ।

सच्ची वासना कभी न कभी अवश्य ही पूरी होती है। इसी प्रकार मेरी भी यह सद वासना पूरी हुई। एक बार ज्येष्ठ के महीने में कुछ महात्मा हमारे ग्राम में चतुर्मास्य व्रत करने आये। वे आठ महीने तो भ्रमण करते रहते थे। ४ महीने वर्षा में एक जगह रह कर नियम व्रत करते। हमारा ग्राम श्री गंगा जी के तट पर था, ब्राह्मणों की बस्ती थी। इस साल मुनियों ने वही चातुर्मास्य करने का निश्चय किया। ग्राम से बाहिर

भगवती भागीरथी के तट पर एक विस्तृत बगीचें में उन मुनियों की कुटियाँ बनाई गईं। ग्राम के लोगों ने उनकी भिक्षा आदि का समुचित प्रबन्ध कर दिया। वह हमारे स्वामी ब्राह्मण के घर के समीप ही था। मेरी मा जिनकी दासी थी उन ब्राह्मण देव ने बड़े स्नेह से मुझसे कहा—"बेटा, देखो, तुम उन महात्माओं के ही समीप में रहा करो। उनकी जो भी सेवा हो बड़े प्रेम से करना। इससे तुम्हारा बड़ा कल्याण होगा।"

मुझे तो मानो निधि मिल गई। निर्धन को धन मिलने पर, अंधे को पुनः दृष्टि मिलने पर, धनी अपुत्री को पुत्र प्राप्ति पर, जन्म के कैदी को कारागार की मुक्ति पर जितनी प्रसन्नता होती है उससे अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात पर हुई। वहाँ समीप में ही मेरी मा कुछ कार्य कर रही थी, उससे भी हमारे स्वामी ब्राह्मण देव ने कहा—"कृष्ण दासी! देख, तेरे बच्चे को हम वहाँ साधुओं की सेबा में रखते हैं। वे बड़े भजनानन्दी महात्मा हैं। उनके यहाँ भोजन आदि की तो कुछ कमी ही नहीं। सुन्दर से सुन्दर भगवान् का प्रसाद नित्य मिलेगा। फिर उन महात्माओं के सत्सग से इसका कल्याण भी हो जायगा।

गरीबिनी माता तो यह चाहा ही करती है कि किसी प्रकार मेरे सुतको सुख मिले। मेरी माँ ने बड़ी प्रसन्नता से कहा—"आपका ही बच्चा है, जहा चाहें रखें। महात्माओं की सेवा से क्या नहीं हो सकता। उनकी कृपा हो जाय और वे आशीर्वाद दे दें तो मेंरे बच्चे की सुन्दर सी बहू आजायगी।"

बस, उसे एक वही बहू की धुनि थी। हमारे स्वामी ब्राह्मण देवता मुझे उन महात्माओं के समीप ले गये। उनमें जो सबसे वृद्ध, सबके महन्त महात्मा थे, उनसे उन्होंने कहा—"यह बच्चा

है, सुशील है आपके चरणों में रहेगा। आपकी सेवा सुश्रूषा करेगा।"

उन महात्मा ने मुझे देखा। मेरे ऊपर कृपा दृष्टि करते हुए मधुर वाणी से बोले—"अच्छी बात है, यहाँ भगवान् की सेवा में सहयोग देगा। कुछ बाह्य कैंकर्य करेगा।"

अब क्या था, मेरा भाग्य खुल गया। मैं उन महात्माओं के चरणों की शरण में रहने लगा। व्यासजी! उन चार महीनों में जैसा सुख मिला, अब १४ भुवनों में घूम-घूम कर देखता हूँ, वैसा सुख कहीं देखने में नहीं आता। वे महात्मा सब कितने महान् थे, कितने त्यागी थे, कैसे भजनानन्दी थे, कुछ कहते नहीं बनता। उनका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता था। सभी अरुणोदय से पूर्व ही उठ जाते। शीघ्र ही शौचादि से निवृत्त होकर पुण्यतोया भगवती भागीरथी में स्नान करते। अपने सन्ध्यादि कर्मों को वहीं कर आते। आकर सब जप, पूजा, पाठ में लगते। कुछ महात्मा भगवत् सेवा में लग जाते। भगवान् की आरती होती, सब मिल कर कीर्तन करते। फिर विष्णु सहस्रनाम आदि स्तोत्रों का, वेदों का पाठ करते। भगवान् का भोग लगता। सभी मिल कर प्रसाद पाते। गंगाजी जाते। मध्याह्न की सन्ध्या आदि कृत्य करते। फिर भगवान् के चरित्रों की अमृतमयी कथा होती, सभी बड़ी श्रद्धा भक्ति से श्रवण करते। पुनः सब मिल कर भगवान् के सुमधुर नामों का संकीर्तन करते। संकीर्तन से उठते ही सब शौचादि को चले जाते। सन्ध्या आरती होती, कीर्तन होता सत्सङ्ग होता। कोई क्षण ऐसा नहीं जाता था, जिसमें परमार्थ चर्चा न हो। उनके सब कार्य कृष्णार्पण बुद्धि से, बड़े नियम समय से समय पर ही होते। कभी किसी कार्य में प्रमाद या आलस्य नहीं होता था। यद्यपि मेरी देखने में अवस्था छोटी थी। किन्तु पूर्व जन्मों के संस्कारों से मुझे सब बोध था। मैं समझता था मेरे जीवन में यह स्वर्णावसर बड़े भाग्य से आया है। इसका उपयोग, बड़ी सावधानी के साथ दत्तचित्त होकर करना चाहिये। यद्यपि उन साधुओं को किसी से रागद्वेष या ममता मोह तो था ही

नहीं। वे सभी समदर्शी थे, किन्तु मेरी सरलता, सत्यता, सेवा परायणता, संयम और सदाचार के कारण मुझ पर विशेष कृपा रखते। मैं भी अव्यग्र होकर उनकी सेवा सुश्रूषा में सदा तत्पर रहता। वे जो बूढ़े सबके आचार्य महन्त थे, मुझ पर पुत्रवत् स्नेह रखते। उनका निष्कपट प्रेम पाकर मेरे हृदय की कलियाँ खिल जातीं। हृदय चाहता था, उनकी प्यारी-प्यारी स्वच्छ सफेद दाढ़ी को सदा देखता ही रहूँ। कैसा तेजस्वी मुख मंडलता था, उन महात्मा का। हँस कर जब वे बातें करते तो मानों उनके मुख से फूल झड़ रहे हों। जब वे कथा कहते तो ऐसे लगते मानों अमृत की वर्षा कर रहे हों। कहते कहते उनका कंठ गद् गद् हो जाता, नेत्रों से प्रेमाश्रु वहने लगते। बीच बीच में वाणी के गद्गद् हो जाने से कथा रुक जाती। वे अपने आपे में नहीं रहते। भावमग्न होकर किसी दूसरे लोक में चले जाते थे और उसी लोक से प्रेम के आवेश में दिव्य वाणी से कथा कहते। मुझसे जब बातें करते, पहिले प्रेम से पुचकारते फिर 'बेटा' कहते। तब कोई काम करने को कहते। कैसा उनका सरल स्वभाव था।

मैंने भी अपने शरीर का समस्त मोह त्याग दिया, प्रातःकाल उनके उठने के पूर्व ही उठ पड़ता। उठते ही समस्त आश्रम में झाड़ू देता। इतने में ही खड़ाऊँ खटखटाते कमंडलु हाथ में लिये वे महात्मा शौच के लिये जाते हुए दिखाई देते। मैं झाड़ फेंक कर भूमि में लोट कर उन्हें साष्टांग करता। वे पूछते—"अरे,कौन है बेटा, हरिदास ? तू बड़ी जल्दी उठ पड़ता है रे ? इतना कह कर पुचकारते, और चले जाते। उनके चले जाने पर उनके चरणों के नीचे की धूलि को उठाकर धीरे से मैं अपने मस्तक पर, सम्पूर्ण शरीर पर

मलता। फिर और भी जो महात्मा दिखाई देते तो सबके चरणों में प्रणाम करता। समस्त आश्रम को झाड़-बुहार कर खूब स्वच्छ बना कर मैं गंगातट पर जाता। स्नानादि से निवृत्त होकर तुलसी और पुष्प उतारता। जहाँ आचार्य महाराज का आसन था उसके एक ओर पूजा की वेदी थी। दूसरी ओर भगवान् की रसोई बनती थी। मैं महाराज के सम्मुख ही टोकरी लेकर बैठ जाता, भगवान् के लिये हार बनाता रहता और महाराज के पाठ-पूजा को भी देखता सुनता रहता। रसोई में, पूजा में, जब भी जिस-जिस कार्य के लिये आवश्यकता पड़ती मुझे पुकारते थे—"हरिदास ?" मैं उसी समय उत्तर देता—"हाँ, महाराज जी मैं आया।" तत्क्षण उठ कर जाता और वे जो भी काम करने को कहते उसे करके पुनः अपने स्थान पर आ बैठता। आरती में, पूजा कथा में, कीर्तन में, सभी में बड़ी श्रद्धा के साथ सम्मिलित होता। कैसा मनोहर कीर्तन करते थे, वे मुनिगण ! अब भी उसका स्मरण आते ही मेरा हृदय गद्‌गद् हो जाता है। उनमें एक गोरे से ठिंगने से बड़े ही स्वरूपवान् महात्मा थे। कैसी मनमोहिनी मूरति थी, उन महात्मा की। जब वे वीणा बजा कर भगवान् के गुणानुवाद गाते तो ऐसा लगता था, मानो कोकिल कूज रही हो। कितना सुरीला सुर था, उन साधु का। कैसी तन्मयता से गाते थे, उन गीतों को। गाते-गाते श्रावण भादौं की वर्षा की भाँति उनके नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती। उपस्थित सभी महात्माओं की आँखें भीग जातीं। मैं अपनी अश्रु भरे गीले नेत्रों से अनिमेष उन्हीं की ओर देखता रह जाता। मेरे मन में बार-बार यही बात आती कि ऐसी ही वीणा एक मुझ पर भी होती, तो मैं भी इसी भाँति प्रेम में विभोर होकर कृष्ण कीर्तन करता।

प्रेम से प्रभु के यश सम्बन्धी पदों का गायन करता। किन्तु दासी के पुत्र पर वीणा कहाँ से आती? आ भी जाती तो उसे बजाता कौन सिखाता, इसीलिए मन मार कर रह जाता और उस कीर्तन को सुन कर ही सन्तोष करता। उस सुमधुर गायन को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती थी। चित्त चाहता था यह और भी होता रहे, किन्तु वहाँ तो सब के कार्य समयानुसार ही होते।

भगवान् का भोग लगने के अनन्तर जब सन्तों की पंक्ति लगती और वे भगवन्नामों का उच्चारण करते-करते प्रसाद पा लेते तो मैं सब की पत्रावली उठाता। उनमें लगे हुए कणों को बड़ी सावधानी से बीनता और उन महात्माओं की आज्ञा पाकर उस महाप्रसाद को पाता था। आचार्य महाराज के थाल में जो कुछ लगा रहता, उसे भी उठा ले जाता। एक दिन मैंने विनीत भाव से उनसे पूछा—"महाराज जी, मैं इस प्रसाद को पा लिया करूँ?" यह सुन कर थोड़ी देर उन्होंने कुछ सोचा और फिर बोले—"अच्छी बात है।" बस, फिर क्या था, मेरा काम बन गया। व्यासजी, शुद्धता से रसोई बना कर भगवान् का भोग लगाया जाय, मंजरी सहित हरी-हरी कोमल तुलसी डाल कर प्रभु के अर्पण किया जाय, तब वह अन्न 'महाप्रसाद' हो जाता है। उसी महाप्रसाद को सन्त भगवत् भक्त पा लें और उनके पाने के पश्चात् जो शेष रह जाय, उसी को महा-महा प्रसाद कहते हैं। उस प्रसाद को उनकी आज्ञा से श्रद्धा भक्ति के सहित पाने से सभी प्रकार के पापों का नाश हो जाता है। अन्तः करण की मलिनता दूर हो जाती है।

बड़े-बड़े पात्रों में प्रसाद बनता था, उन्हीं में तुलसी छोड़ कर भगवान् को समर्पित किया जाता था। पीछे महात्मा

उन बर्तनों को मलते थे। मैं तो बच्चा था। मुझसे इतने बड़े पात्र न उठते ही थे, न वे कभी मुझसे मलने को ही कहते थे। छोटे-छोटे पात्रों को मैं मल लाता था, दिन को मैं एक बार महात्माओं की सीथ प्रसादी पाकर ही मैं खुश रहता। उसी के पाने से मेरा अतःकरण शुद्ध हो गया। फिर प्रसाद पाने के अनन्तर मैं कथा में बैठ जाता। एकाग्र चित्त से कथा सुनता। पुनः गंगा तट पर जाता और अच्छी-अच्छी बहुत सी तोड़ कर लाता। सुन्दर पीली मिट्टी खोद कर किनारे रास्ते में रख आता कि शौच क्रिया के लिये महात्मा सरलता से ले जायँ। उन महात्माओं की चर्य्या मुझे बहुत ही प्रिय लगती। अपने जीवन को निरर्थक समझता। देखो मेरा भी एक जीवन है, पृथ्वी का भार भूत बना हूँ। जब तुलसी तोड़ता तो रो पड़ता, सोचता यह तुलसी धन्य हैं, भगवान् की सेवा में आतीं है, उनके ऊपर चढ़ती है। पुष्पों को उतारता तब उन्हें मनही मन प्रणाम करता भैया पुष्पो! तुह्मारा ही खिलना सार्थक हैं, तुम भगवत् सेवामें काम आते हों, मुझ मूढ़ से तो कुछ भी किसी का कार्य नहीं होता। दँतौन तोड़ता तो सोचता—"इन पेड़ों की ये डालियाँ धन्य हैं, जो साधुओं के कार्य में तो लगीं। मृत्तिका खोदता तबभी सोचता—"मुझसे तो यह मृत्तिका ही अच्छी है। इस प्रकार अपने भक्ति हीन जीवन पर मुझे बार-बार दुःख होता, उन महात्माओं के साथ बहुत सी गौएँ थी। मैं उनके बछड़ों के साथ खेलता। हरी-हरी घास लाकर उनके मुँह में देता। उन्हें भाई की तरह प्यार करता। इस प्रकार उन महात्माओं के सत्संग में मेरे वे दिन जाते हुए मालूम ही न पड़ते थे। मुझे ध्यान ही न रहता, कब प्रातः हुआ कब सायंकाल हो गया। वहाँ कथा कीर्तन की सुरसरि

बहती रहती। उसका प्रवाह निरंतर अव्याहत गति से बहता रहता।

आचार्य महाराज की रात्रि में चरण सेवा भी मैं करता था। कितना सुखद स्पर्श था उन तपोधन का। अपने निस्वार्थ प्रेम से उन्होंने मुझे स्नेह सागर में निमग्न कर दिया। जब कभी सत्संग में चर्चा चलती तो वे दूसरे संतों के सामने मेरे सम्बन्ध में कहने लगते—"देखो, इस बच्चे की अवस्था वैसे तो अभी छोटी है; किन्तु बड़ा संस्कारी प्रतीत होता है। कथा कितने मनोयोग से सुनता है, कीर्तन कितने प्रेम से गद्‌गद् हो कर करता है, कोई योग भ्रष्ट मालूम पड़ता है। महात्मा के मुख से प्रशंसा सुन कर मन ही मन मुझे प्रसन्नता होती, किन्तु लज्जा के कारण मैं सिर झुका लेता या वहाँ से उठ कर अन्यत्र चला जाता।"

उन महात्मा की मेरे कथा का जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। मेरी मति से श्रीकृष्णचरणारविन्दों में अचल हो गई। मुझे यह सम्पूर्ण संसार स्वप्न की भाँति प्रतीत होने लगा। मुझे सर्वत्र श्यामसुन्दर की सलौनी मूर्ति ही दिखाई देने लगी। इस सम्पूर्ण सत् असत् रूप जगत को मैं परब्रह्म स्वरूप से अपने भीतर ही अनुभव करने लगा और यह वाह्य प्रपंच मायिक और अपने आप कल्पना किया हुआ प्रतीत होने लगा।

न मुझे माता की चिन्ता थी; न घर की। माता नित्य आकर मुझे देख जाती, महात्माओं को प्रणाम कर जाती, घंटों बैठी रहती, महात्माओं के सामने रोती और मेरी मंगल कामना के लिये प्रार्थना करती। महात्मा उसे भाँति-भाँति से समझाते—"अरी भाई, यह तेरा पुत्र बड़ा होनहार है। तू इसकी चिन्ता मत कर।" किंतु मातृहृदय तो ब्रह्माजी ने

विचित्र ही बनाया है। वह मुझसे नित्य पूछती—"बेटा, कोई कष्ट तो नहीं। भोजन आदि सब ठीक मिलता है न?" मैं कहता—"मा, यहाँ महात्माओं की शरण में कष्ट का क्या काम? यहाँ तो सर्वत्र आनंद ही आनंद है।

इस प्रकार ब्यासजी! वे दिन कितने सुख से बीत। यह कहने की बात नहीं, मेरा हृदय ही जानता है। इतना कहते-कहते नारदजी का कंठ रुक गया और वे कुछ काल के लिये भाव समाधि में निमग्न हो गये।

छप्पय

कृष्ण कीरतन करूँ कथा नित प्रति शुभ सुनता।
सेवा श्रद्धा सहित सभी संतनि की करता॥
सुनत मनोहर चरित मैल मन को सब छूट्यो।
श्रीपति पद-पद रति भई जगत से ना तो टूट्यो॥

चित्त भ्रमर सतसंग मधु, श्रीहरि गुन गाने लग्यो।
मन में मोद महा भयो, हृदय प्रफुल्लित ह्वै गयो॥

—०—

पुस्तक मिलने के पते

१—इलाहाबाद—शिशु-प्रेस, कर्नलगञ्ज।
२— ,, शिवटेलरिङ्गशाप, जवाहिर स्कायर।
३— ,, गोपालदास अग्रवाल, २५५ रानी मण्डी।
४—देहली—शङ्करलाल ऋषिकुमार दुशालेवाले, मोती बाजार,
८—मुजफ्फर नगर—ला० लक्ष्मण दास जी दादू मंत्री, संकीर्तन भवन, नई मंडी, मुजफ्फरनगर।
६—सहारनपुर—संतोषकुमार गोबर्धनदास, चौक।
७—बृन्दावन—आनन्दजी ब्रह्मचारी, श्री उड़ियाबाबाजी का आश्रम, दावानलकुंड,।
८—बम्बई—से० भगवानदासजी सिंहानिया, सिंहानिया बाड़ी नई बाड़ी के सामने दादी सेठ अग्यारी लैंन।
९—मदरास—ला० प्रतापचन्द्र अग्रवाल, २४२, मिन्टस्ट्रीट,
१०—कलकत्ता—सेठ महादेव प्रसाद आलमाल, ३५ बाँस तल्ला स्ट्रीट।
११—झरिया—वीरमजी घेला, न्यूमेशन केालियरी।
१२—पटना—पं० परमानन्द पाँडेय, मीठापुर पटना।
१३—पटना सिटी—बाँकेबिहारी राधारमन, छोटी पाटन देवी मन्दिर।
१४—बनारस—मास्टर खेलाड़ी लाल बुकसेलर कचौड़ी गली, डिस्ट्रक्टबोर्ड।
१५—बलिया—पं० श्यामसुन्दर जी उपाध्याय, सेक्रेटरी बलिया।
१६—कानपुर—बा० कुंजबिहारीलाल (हेडमास्टर) नवाबगंज
१७—लाहौर—के० आर० खन्ना, कमीशन एजेंट, लुहारीगेट,
१८—नन्दलाल मित्र, कोडक लिमिटेड पो० बो० १७६, लाहौर।